॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद्

शान्तिपाठ

ॐ वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविरावीर्म एधि। वेदस्य म आणीस्थः श्रुतं मे मा प्रहासीः। अनेनाधीतेनाहोरात्रान्सन्दधाम्यृतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि। तन्मामवतु। तद्वक्तारमवतु। अवतु मामवतु वक्तारमवतु वक्तारम्॥

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

[इसका अर्थ ऐतरेयोपनिषद्के आरम्भमें छप चुका है।]

प्रथम अध्याय

पर्यङ्क-विद्या

गर्गके प्रपौत्र सुप्रसिद्ध महात्मा चित्र यज्ञ करनेवाले थे। इसके लिये उन्होंने अरुणके पुत्र उद्दालकको प्रधान ऋत्विक्के रूपमें वरण किया। परंतु उन प्रसिद्ध उद्दालक मुनिने स्वयं न पधारकर अपने पुत्र श्वेतकेतुको भेजा और कहा—'वत्स! तुम जाकर चित्रका यज्ञ कराओ।' श्वेतकेतु यज्ञमें पधारकर एक ऊँचे आसनपर विराजमान हुए। उन्हें आसनपर बैठे देख चित्रने पूछा—'गौतमकुमार! इस लोकमें कोई ऐसा आवृत (आवरणयुक्त) स्थान है, जिसमें मुझे ले जाकर रखोगे? अथवा कोई उससे भिन्न—सर्वथा विलक्षण आवरणशून्य पद है, जिसे जानकर तुम उसी लोकमें मुझे स्थापित करोगे?'

श्वेतकेतुने कहा—'मैं यह सब नहीं जानता। किंतु यह प्रश्न सुनकर मुझे प्रसन्नता हुई है। मेरे पिता आचार्य हैं—वे शास्त्रके गूढ अर्थका ज्ञान रखते, दूसरे लोगोंको शास्त्रीय आचारमें लगाते और स्वयं भी शास्त्रके अनुकूल ही आचरण करते हैं; अतः उन्हींसे यह बात पूछूँगा।' यों कहकर वे अपने पिता आरुणि (उद्दालक)-के पास गये और प्रश्नको सामने रखते हुए बोले—'पिताजी! चित्रने इस-इस प्रकारसे मुझसे प्रश्न किया है। सो इसके सम्बन्धमें मैं किस प्रकार उत्तर दूँ?' उद्दालकने कहा—'वत्स! मैं भी इस प्रश्नका उत्तर नहीं जानता। अब हमलोग महाभाग चित्रकी यज्ञशालामें ही इस तत्त्वका अध्ययन करके इस विद्याको प्राप्त करेंगे। जब दूसरे लोग हमें विद्या और धन देते हैं तो चित्र भी देंगे ही। इसलिये आओ, हम दोनों चित्रके पास चलें।'

वे प्रसिद्ध आरुणि मुनि हाथमें समिधा ले जिज्ञासुके वेषमें गर्गके प्रपौत्र चित्रके यहाँ गये। 'मैं विद्या ग्रहण करनेके लिये तुम्हारे पास आया हूँ' इस भावनाको व्यक्त करते हुए उन्होंने चित्रके समीप गमन किया। उन्हें इस प्रकार आया देख चित्रने कहा—'गौतम! तुम ब्राह्मणोंमें पूजनीय एवं ब्रह्मविद्याके अधिकारी हो; क्योंकि मेरे-जैसे लघु व्यक्तिके पास आते समय तुम्हारे मनमें अपने बड़प्पनका अभिमान नहीं हुआ है। इसलिये आओ, तुम्हें निश्चय ही इस पूछे हुए विषयका स्पष्ट ज्ञान कराऊँगा'॥ १॥

सुप्रसिद्ध यज्ञकर्ता चित्रने इस प्रकार उपदेश आरम्भ किया—ब्रह्मन्! जो कोई भी अग्निहोत्रादि सत्कर्मोंका अनुष्ठान करनेवाले लोग हैं, वे सब-के-सब जब इस लोकसे प्रयाण करते हैं तो (क्रमशः धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष और दक्षिणायन आदिके अभिमानी देवताओंके अधिकारमें होते हुए अन्ततोगत्वा) चन्द्रलोक अर्थात् स्वर्गमें ही जाते हैं। उनके प्राणों (इन्द्रियों और प्राणों)-से चन्द्रमा शुक्लपक्षमें पुष्टिको प्राप्त होते हैं। वे (चन्द्रमा) कृष्णपक्षमें उन स्वर्गवासी जीवोंकी तृप्ति नहीं कर पाते।

निश्चय ही यह स्वर्गलोकका द्वार है, जो कि चन्द्रमाके नामसे प्रसिद्ध है। जो अधिकारी (दैवी-सम्पत्तिसे युक्त होनेके कारण) उस स्वर्गरूपी चन्द्रमाका प्रत्याख्यान कर देता है अर्थात् जहाँसे पुनः नीचे गिरना पड़ता है, ऐसा स्वर्गलोक मुझे नहीं चाहिये—इस प्रकार

दृढ़ निश्चय करके जो निष्काम धर्मका अनुष्ठान करते हुए चन्द्रलोकको त्याग देता है, उस पुरुषको उसका वह शुभ संकल्प चन्द्रलोकसे भी ऊपर नित्य ब्रह्मलोकमें पहुँचा देता है। परंतु जो स्वर्गीय सुखके प्रति ही आसक्त होनेके कारण उस चन्द्रलोकको अस्वीकार नहीं करता, उस सकामकर्मी स्वर्गवासीको, उसके पुण्य-भोगकी समाप्ति होनेपर, देववर्ग वृष्टिके रूपमें परिणत करके इस लोकमें ही पुनः बरसा देता है।

वह वर्षाके रूपमें यहाँ आया हुआ अनुशयी जीव अपनी पूर्व-वासनाके अनुसार कीट अथवा पतङ्ग या पक्षी, अथवा व्याघ्र या सिंह अथवा मछली, या साँप-बिच्छू अथवा मनुष्य या दूसरा कोई जीव होकर इनके अनुकूल शरीरोंमें अपने कर्म और विद्या—उपासनाके अनुसार जहाँ-कहीं उत्पन्न होता है।

(इस प्रकार संसारकी स्वर्ग-नरकरूपा दुर्गतिको समझकर जो उससे विरक्त हो चुका है और ज्ञानोपदेशके लिये गुरुदेवकी शरणमें आया है) उस अपने समीप आये हुए शिष्यसे दयालु एवं तत्त्वज्ञ गुरु इस प्रकार पूछे—'वत्स! तुम कौन हो?' गुरुके इस प्रकार प्रश्न करनेपर शिष्य (अपनेको देहादि-संघातरूप मानकर) यों उत्तर दे—'हे देवगण! जो पञ्चदशकलात्मक—शुक्ल और कृष्णपक्षके हेतुभूत, श्रद्धाद्वारा प्रकट, पितृलोकस्वरूप एवं नाना प्रकारके भोग प्रदान करनेमें समर्थ हैं, उन चन्द्रमाके निकटसे प्रादुर्भूत होकर पुरुषरूप अग्निमें स्थापित हुआ जो श्रद्धा, सोम, वृष्टि और अन्नका परिणामभूत वीर्य है, उस वीर्यके ही रूपमें स्थित हुए मुझ अनुशयी जीवको तुमने वीर्याधान करनेवाले पुरुषमें प्रेरित किया। तत्पश्चात् गर्भाधान करनेवाले पुरुष (पिता)-के द्वारा तुमने मुझे माताके गर्भमें भी स्थापित करवाया। कुछ संवत्सरोंतक जीवन धारण करनेवाले पिताके साथ मैं एकताको प्राप्त हुआ था। मैं स्वयं भी कुछ संवत्सरोंतक ही जीवन धारण करनेवाला होकर ब्रह्मज्ञान अथवा उसके विपरीत मिथ्याज्ञानके निमित्त योनिविशेषमें शरीर धारण करके स्थित हूँ। इसलिये अब मुझे अमृतत्वकी प्राप्तिके साधनभूत ब्रह्मज्ञानके लिये अनेक ऋतुओं (वर्षों)-तक अक्षय रहनेवाली दीर्घ आयु प्रदान करें—ब्रह्मसाक्षात्कारपर्यन्त मेरे दीर्घजीवनके लिये चिरस्थायिनी आयुकी पुष्टि करें। क्योंकि यह जानकर मैं देवताओंसे प्रार्थना करता हूँ, अतः उसी सत्यसे, उसी तपस्यासे, जिनका मैं अभी उल्लेख कर आया हूँ, मैं ऋतु हूँ—संवत्सरादिरूप मरणधर्मा मनुष्य हूँ। आर्तव हूँ—ऋतु अर्थात् रज-वीर्यसे उत्पन्न देह हूँ। यदि ऐसी बात नहीं है तो आप ही कृपापूर्वक बतायें, मैं कौन हूँ? क्या जो आप हैं, वही मैं भी हूँ?' उसके इस प्रकार कहनेपर संसार-भयसे डरे हुए उस शिष्यको गुरु ब्रह्मविद्याके उपदेशद्वारा भवसागरसे पार करके बन्धनमुक्त कर देता है॥ २॥

वह परब्रह्मका उपासक पूर्वोक्त देवयान-मार्गपर पहुँचकर पहले अग्निलोकमें आता है, फिर वायुलोकमें आता है; वहाँसे वह सूर्यलोकमें आता है, तदनन्तर वरुणलोकमें आता है; तत्पश्चात् वह इन्द्रलोकमें आता है, इन्द्रलोकसे प्रजापतिलोकमें आता है तथा प्रजापतिलोकसे ब्रह्मलोकमें आता है। इस प्रसिद्ध ब्रह्मलोकके प्रवेश-पथपर पहले 'आर' नामसे प्रसिद्ध एक महान् जलाशय है। (यह उस मार्गका विघ्न है, काम-क्रोधादि अरियों—शत्रुओंद्वारा निर्मित होनेसे ही उसका नाम 'आर' पड़ा है।) उस जलाशयसे आगे मुहूर्ताभिमानी[1] देवता हैं, जो काम-क्रोध आदिकी प्रवृत्ति उत्पन्न करके ब्रह्मलोक-प्राप्तिके अनुकूल की हुई उपासना और यज्ञ-यागादिके पुण्यको नष्ट करनेके कारण 'येष्टिह[2]' कहलाते हैं। उससे आगे विजरा नदी है, जिसके दर्शनमात्रसे जरावस्था दूर हो जाती है। (यह नदी उपासनारूपा ही है।) उससे आगे 'इल्य' नामक वृक्ष है। 'इला' पृथिवीका नाम है, उसका ही स्वरूप होनेसे उसका नाम 'इल्य' है। उससे आगे अनेक देवताओंद्वारा सेव्यमान उद्यान, बावली, कुएँ, तालाब और नदी आदि भाँति-भाँतिके जलाशयोंसे युक्त एक नगर है, जिसके एक ओर तो विरजा नदी है और दूसरी ओर प्रत्यञ्चाके आकारका (अर्द्धचन्द्राकार) एक परकोटा है। उसके आगे ब्रह्माजीका निवासभूत विशाल मन्दिर है, जो 'अपराजित' नामसे प्रसिद्ध है। सूर्यके समान तेजोमय होनेके कारण वह कभी किसीके द्वारा पराजित नहीं होता। मेघ और यज्ञरूपसे उपलक्षित वायु तथा आकाशरूप इन्द्र एवं प्रजापति उस ब्रह्म-मन्दिरके द्वाररक्षक हैं।

---

१. दो घड़ी (४८ मिनट)-के कालको मुहूर्त कहते हैं।

२. य इष्टिं घ्नन्ति (जो इष्ट वस्तुकी प्राप्तिमें बाधा पहुँचाते हैं।)

वहाँ 'विभुप्रमित' नामक सभामण्डप है (जो अहङ्कारस्वरूप है)। उसके मध्यभागमें जो वेदी (चबूतरा) है, वह 'विचक्षणा' नामसे प्रसिद्ध है। (बुद्धि और महत्तत्त्व आदि नामोंसे भी उसका प्रतिपादन होता है।) वह अत्यन्त विलक्षण है। जिसके बलका कोई माप नहीं है, वह '**अमितौजाः**' प्राण ही ब्रह्माजीका सिंहासन—पलँग है। मानसी (प्रकृति) उनकी प्रिया है। वह मनकी कारणभूता अथवा मनको आनन्दित करनेवाली होनेसे ही मानसी कहलाती है। उसके आभूषण भी उसीके स्वरूपभूत हैं। उसकी छायामूर्ति 'चाक्षुषी' नामसे प्रसिद्ध है। वह तैजस नेत्रोंकी प्रकृति होनेके कारण अत्यन्त तेजोमयी है। उसके आभूषणादि भी उसीके समान तेजोमय हैं। जरायुज, स्वेदज, अण्डज और उद्भिज्ज—इन चतुर्विध प्राणियोंका नाम जगत् है। यह सम्पूर्ण जगत्—जड-चेतनसमुदाय ब्रह्माजीकी वाटिकाके पुष्प तथा उनके धौत एवं उत्तरीयरूप युगल वस्त्र हैं। वहाँकी अप्सराएँ—साधारण युवतियाँ 'अम्बा' और 'आम्बायवी' नामसे प्रसिद्ध हैं। जगज्जननी श्रुतिरूपा होनेसे वे 'अम्बा' कहलाती हैं तथा 'अम्ब' (अधिक) और अयव (न्यून)-भावसे रहित बुद्धिरूपा होनेसे उनका नाम 'आम्बायवी' है। इसके सिवा वहाँ 'अम्बया' नामकी नदियाँ बहती हैं। अम्बक (नेत्र)-रूप ब्रह्मज्ञानकी ओर ले जानेके कारण उनकी 'अम्बया' (**अम्बम्—अम्बकम् लक्ष्यीकृत्य यान्ति**) संज्ञा है। उस ब्रह्मलोकको जो इस प्रकार जानता है, वह उसीको प्राप्त होता है। उसे जब कोई अमानव पुरुष आदित्यलोकसे ले आता है, उस समय ब्रह्माजी अपने परिचारकों और अप्सराओंसे कहते हैं—'दौड़ो, उस महात्मा पुरुषका मेरे यशके—मेरी प्रतिष्ठाके अनुकूल स्वागत करो; मेरे लोकमें ले आनेवाली उपासना आदिसे निश्चय ही यह उस विजरा नदीके समीपतक आ पहुँचा है, अवश्य ही अब यह कभी जरावस्थाको नहीं प्राप्त होगा'॥ ३ ॥

ब्रह्माजीका यह आदेश मिलनेपर उसके पास स्वागतके लिये पाँच सौ अप्सराएँ जाती हैं। उनमेंसे सौ अप्सराएँ तो हाथोंमें हल्दी, केसर और रोली आदिके चूर्ण लिये रहती हैं। सौके हाथोंमें भाँति-भाँतिके दिव्य वस्त्र एवं अलङ्कार होते हैं। सौ अप्सराएँ हाथोंमें फल लिये होती हैं। सौके हाथोंमें नाना प्रकारके दिव्य अङ्गराग होते हैं तथा सौ अप्सराएँ अपने हाथोंमें भाँति-भाँतिकी मालाएँ लिये होती हैं। वे उस महात्माको ब्रह्मोचित अलङ्कारोंसे अलङ्कृत करती हैं। वह ब्रह्मवेत्ता पुरुष ब्रह्माजीके योग्य अलङ्कारोंसे अलङ्कृत हो ब्रह्माजीके स्वरूपको ही प्राप्त कर लेता है। फिर वह 'आर' नामक जलाशयके पास आता है और उसे मनके द्वारा—सङ्कल्पसे ही लाँघ जाता है। उस जलाशयतक पहुँचनेपर भी अज्ञानी मनुष्य उसमें डूब जाते हैं। फिर वह ब्रह्मवेत्ता मुहूर्ताभिमानी 'येष्टिह' नामक देवताओंके पास आता है; किंतु वे विघ्नकारी देवता उसके पाससे भाग खड़े होते हैं। तत्पश्चात् वह विजरा नदीके तटपर आता है और उसे भी सङ्कल्पसे ही पार कर लेता है। वहाँ वह पुण्य और पापोंको झाड़ देता है।

जो उसके प्रिय कुटुम्बी होते हैं, वे तो उसका पुण्य पाते हैं और जो उससे द्वेष करनेवाले होते हैं, उन्हें उसका पाप मिलता है। उस विषयमें यह दृष्टान्त है। रथसे यात्रा करनेवाला पुरुष रथको दौड़ाता हुआ रथके दोनों चक्कोंको देखता है; उस समय रथचक्रोंका जो भूमिसे संयोग-वियोग होता है, वह उस द्रष्टाको नहीं प्राप्त होता। इसी प्रकार वह ब्रह्मवेत्ता रात और दिनको देखता है, पुण्य और पापको देखता है तथा अन्य समस्त द्वन्द्वोंको देखता है; द्रष्टा होनेके कारण ही उसका इनसे सम्बन्ध नहीं होता। अतएव यह पुण्य और पापसे रहित होता है। फलतः वह ब्रह्मवेत्ता ब्रह्मको ही प्राप्त होता है॥ ४॥

तब वह इल्य वृक्षके पास आता है, उसकी नासिकामें ब्रह्मगन्धका प्रवेश होता है। (वह गन्ध इतनी दिव्य है कि उसके सामने अन्य लोकोंकी सुगन्ध दुर्गन्धवत् प्रतीत होती है।) फिर वह सालज्य नगरके समीप आता है; वहाँ उसकी रसनामें उस दिव्यातिदिव्य ब्रह्मरसका प्रवेश (अनुभव) होता है, जिसका उसे पहले कभी अनुभव नहीं हुआ रहता। फिर वह 'अपराजित' नामक ब्रह्म-मन्दिरके समीप आता है, वहाँ उसमें ब्रह्मतेज प्रवेश करता है। तत्पश्चात् वह द्वार-रक्षक इन्द्र और प्रजापतिके पास आता है; वे उसके सामनेसे मार्ग छोड़कर हट जाते हैं। तदनन्तर वह 'विभुप्रमित' नामक सभा-मण्डपमें आता है; वहाँ उसमें ब्रह्मयश प्रवेश करता है। फिर वह 'विचक्षणा' नामक वेदीके पास आता है। 'बृहत्' और 'रथन्तर'—ये दो साम उसके दोनों अगले पाये हैं और 'श्यैत' एवं 'नौधस' नामक साम उसके दोनों पिछले पाये हैं। 'वैरूप' और 'वैराज' नामक साम उसके दक्षिण और

उत्तर पार्श्व हैं तथा 'शाक्वर' और 'रैवत' साम उसके पूर्व एवं पश्चिम पार्श्व हैं। वह समष्टि-बुद्धिरूपा है। वह ब्रह्मवेत्ता उस बुद्धिके द्वारा विशेष दृष्टि प्राप्त कर लेता है। फिर वह '**अमितौजाः**' नामक पलँग (या सिंहासन)-के पास आता है, वह पर्यङ्क प्राणस्वरूप है। भूत और भविष्य—ये दोनों काल उसके अगले पाये हैं और श्रीदेवी एवं भूदेवी—ये दोनों उसके पिछले पाये हैं। उसके दक्षिण-उत्तर भागमें जो 'अनूच्य' नामके दीर्घ खट्वाङ्ग हैं, वे 'बृहत्' और 'रथन्तर' नामक साम हैं और पूर्व-पश्चिम भागमें जो छोटे खट्वाङ्ग हैं, जिनपर मस्तक और पैर रखे जाते हैं, वे 'भद्र' और 'यज्ञायज्ञीय' नामक साम हैं। (सिरकी ओरका भाग ऊँचा और पैरकी ओरका भाग कुछ नीचा है।) पूर्वसे पश्चिमको जो बड़ी-बड़ी पाटियाँ लगी हैं, वे ऋक् और सामके प्रतीक हैं तथा दक्षिण-उत्तरकी ओर जो आड़ी-तिरछी पाटियाँ हैं, वे यजुर्वेदस्वरूपा हैं। चन्द्रमाकी कोमल किरणें ही उस पलँगका नरम-नरम गद्दा हैं। उद्गीथ ही उसपर बिछी हुई उपश्री (श्वेत चादर) है। लक्ष्मीजी तकिया हैं। ऐसे दिव्य पर्यङ्कपर ब्रह्माजी विराजमान होते हैं। इस तत्त्वको इस प्रकार जाननेवाला ब्रह्मवेत्ता उस पलँगपर पहले पैर रखकर चढ़ता है।

तब ब्रह्माजी उससे पूछते हैं—'तुम कौन हो?' उनके प्रश्नका वह इस प्रकार उत्तर दे— ॥ ५ ॥

'मैं वसन्त आदि ऋतुरूप हूँ। ऋतुसम्बन्धी हूँ। कारणभूत अव्याकृत आकाश एवं स्वयंप्रकाश परब्रह्म परमात्मासे उत्पन्न हुआ हूँ। जो भूत (अतीत), भूत (यथार्थ कारण), भूत (जड-चेतनमय चतुर्विध सर्ग) और भूत (पञ्चमहाभूतस्वरूप) है, उस संवत्सरका तेज हूँ। आत्मा हूँ। आप आत्मा हैं, जो आप हैं, वही मैं हूँ।' इस प्रकार उत्तर देनेपर ब्रह्माजी पुनः पूछते हैं—'मैं कौन हूँ?' इसके उत्तरमें कहे—'आप सत्य हैं।' 'जो सत्य है, जिसे तुम सत्य कहते हो, वह क्या है?' ऐसा प्रश्न होनेपर उत्तर दे—"जो सम्पूर्ण देवताओं तथा प्राणोंसे भी सर्वथा भिन्न—विलक्षण हो, वह 'सत्' है और जो देवता एवं प्राणरूप है, वह 'त्य' है। वाणीके द्वारा जिसे 'सत्य' कहते हैं, वह यही है। इतना ही यह सब कुछ है। आप यह सब कुछ हैं, इसलिये सत्य हैं"॥ ६ ॥

यही बात ऋक्सम्बन्धी मन्त्रद्वारा भी बतायी गयी है—"यजुर्वेद जिसका उदर है, सामवेद मस्तक है तथा ऋग्वेद सम्पूर्ण शरीर है, वह अविनाशी परमात्मा 'ब्रह्मा'-के नामसे जाननेयोग्य है। वह ब्रह्ममय—ब्रह्मरूप महान् ऋषि है।" तदनन्तर पुनः ब्रह्माजी उस उपासकसे पूछते हैं—'तुम मेरे पुरुषवाचक नामोंको किससे प्राप्त करते हो?' वह उत्तर दे—'प्राणसे।' (प्र०) 'स्त्रीवाचक नामोंको किससे ग्रहण करते हो?' (उ०) 'वाणीसे।' (प्र०) 'नपुंसकवाचक नामोंको किससे ग्रहण करते हो?' (उ०) 'मनसे।' (प्र०) 'गन्धका अनुभव किससे करते हो?' (उ०) 'प्राणसे—घ्राणेन्द्रियसे।' इस प्रकार कहे। (प्र०) 'रूपोंको ग्रहण किससे करते हो?' (उ०) 'नेत्रसे।' (प्र०) 'शब्दोंको किससे सुनते हो?' (उ०) 'कानोंसे।' (प्र०) 'अन्नके रसोंका आस्वादन किससे करते हो?' (उ०) 'जिह्वासे।' (प्र०) 'कर्म किससे करते हो?' (उ०) 'हाथोंसे।' (प्र०) 'सुख-दुःखोंका अनुभव किससे करते हो?' (उ०) 'शरीरसे।'* (प्र०) 'रतिका परिणामरूप आनन्द, रति (मैथुनका आनन्द) और प्रजोत्पत्तिका सुख किससे उठाते हो?' (उ०) 'उपस्थेन्द्रियसे' यों कहे। (प्र०) 'गमनकी क्रिया किससे करते हो?' (उ०) 'दोनों पैरोंसे।' (प्र०) 'बुद्धि-वृत्तियोंको, ज्ञातव्य विषयोंको और विविध मनोरथोंको किससे ग्रहण करते हो?' (उ०) 'प्रज्ञासे' यों कहे।

तब ब्रह्मा उससे कहते हैं—'जल आदि प्रसिद्ध पाँच महाभूत मेरे स्थान हैं; अतः यह मेरा लोक भी जलादि-तत्त्व-प्रधान ही है। तुम मुझसे अभिन्न मेरे उपासक हो, अतः यह तुम्हारा भी लोक है।'

वह जो ब्रह्माजीकी सुप्रसिद्ध विजय (सबपर नियन्त्रण करनेकी शक्ति) तथा सर्वत्र व्याप्ति—सर्वव्यापकता है, उस विजयको तथा उस सर्वव्यापकताको भी वह उपासक प्राप्त कर लेता है, जो इस प्रकार जानता (उपासना करता) है अर्थात् ब्रह्माजीकी भाँति ही वह सबका शासक एवं सर्वव्यापक बन जाता है॥ ७ ॥

॥ प्रथम अध्याय समाप्त ॥ १ ॥

* यद्यपि सुख-दुःखका ज्ञान अन्तःकरणके द्वारा ही होता है, तथापि 'मेरे पैरमें पीड़ा है, सिरमें दर्द है' इत्यादि प्रतीतिके अनुसार 'शरीरसे' यह उत्तर दिया गया है।

ॐ

द्वितीय अध्याय

प्राणोपासना

'प्राण ब्रह्म है' यह सुप्रसिद्ध ऋषि कौषीतकि* कहते हैं। उन प्रसिद्ध प्राणमय ब्रह्मकी यहाँ राजाके रूपमें कल्पना की गयी है। उनका मन ही दूत है, वाणी परोसनेवाली स्त्री (रानी) है, चक्षु संरक्षक (मन्त्री) है, श्रोत्रेन्द्रिय संदेश सुनानेवाला द्वारपाल है। उन सुप्रसिद्ध प्राणमय ब्रह्मको बिना माँगे ही ये सम्पूर्ण इन्द्रियाभिमानी देवतागण भेंट समर्पित करते हैं—उनके अधीन होकर रहते हैं। इसी प्रकार जो इस प्रकार जानता है, उसको भी सम्पूर्ण चराचर प्राणी बिना माँगे ही भेंट देते हैं। उस प्राणोपासकके लिये यह गूढ़ व्रत है कि 'वह किसीसे कुछ भी न माँगे'—ठीक उसी तरह, जैसे कोई भिक्षु गाँवमें भीख माँगनेपर भी जब कुछ नहीं पाता तो हताश होकर बैठ रहता और कुपित होकर यह प्रतिज्ञा कर लेता है कि 'अबसे इस गाँववाले लोगोंके देनेपर भी यहाँका अन्न नहीं खाऊँगा।' तात्पर्य यह कि वह भिक्षु जिस दृढ़तासे अपनी बातपर डटा रहता है, उसी प्रकार उसको भी अपने व्रतपर अटल रहना चाहिये। जो लोग पहले इस पुरुषको कुछ देनेसे अस्वीकार कर चुके होते हैं, वे ही कुछ न माँगनेका निश्चय कर लेनेपर इसे देनेके लिये निमन्त्रित करते हैं और कहते हैं, 'आओ, हम तुम्हें देते हैं।' 'दीनतापूर्वक दूसरोंके सामने प्रार्थना करना— यह याचकका धर्म होता है अर्थात् याचना करनेवालेको ही दैन्य-प्रदर्शन करना पड़ता है। याचना और दैन्य-प्रदर्शनसे दूर रहनेपर ही उसे लोग यों निमन्त्रण देते हैं कि 'आओ, हम तुम्हें देंगे'॥ १॥

'प्राण ब्रह्म है'—प्रसिद्ध महात्मा पैङ्ग्य भी यही कहते हैं। उन प्रसिद्ध प्राणमय ब्रह्मके लिये वाणीसे परे चक्षु-इन्द्रिय है, जो वागिन्द्रियको सब ओरसे व्याप्त करके स्थित है। (अतः चक्षु वागिन्द्रियकी अपेक्षा आन्तरिक है; क्योंकि जैसा कहा गया हो, वैसा ही नेत्रसे भी देख लिया जाय तो विवादकी सम्भावना नहीं रहती—वह वस्तु यथार्थ समझ ली जाती है।) चक्षुसे परे श्रवणेन्द्रिय है, जो चक्षुको सब ओरसे व्याप्त करके स्थित है; (क्योंकि चक्षुसे कहीं-कहीं भ्रान्त-दर्शन भी होता है, जैसे सीपमें चाँदीका दर्शन। परंतु कानसे विद्यमान अथवा प्रस्तुत वचनका ही श्रवण होता है।) श्रवणेन्द्रियसे परे मन है, जो श्रवणेन्द्रियको सब ओरसे व्याप्त करके स्थित है; क्योंकि मनके सावधान रहनेपर ही श्रवणेन्द्रिय सुन पाती है। मनसे परे प्राण है, जो मनको सब ओरसे व्याप्त करके स्थित है। (प्राण ही मनको बाँध रखनेवाला है—यह बात प्रसिद्ध है। प्राण न रहे तो मन भी नहीं रह सकता; अतः सबकी अपेक्षा पर एवं आन्तरिक आत्मा होनेके कारण प्राणका ब्रह्म होना उचित ही है।) उस प्राणमय ब्रह्मको ये सम्पूर्ण देवता उसके न माँगनेपर भी उपहार समर्पित करते हैं। इसी प्रकार जो यों जानता है, उस उपासकको भी सम्पूर्ण प्राणी बिना माँगे ही भाँति-भाँतिके उपहार भेंट करते हैं। उसका यह गूढ़ व्रत है कि वह किसीसे याचना न करे। इस विषयमें यह दृष्टान्त भी है—कोई भिक्षु गाँवमें भीख माँगनेपर भी जब कुछ नहीं पाता तो हताश होकर बैठ रहता और यह प्रतिज्ञा कर लेता है कि 'अब यहाँ किसीके देनेपर भी अन्न ग्रहण नहीं करूँगा।' ऐसी प्रतिज्ञा कर लेनेपर जो लोग पहले उसे कुछ देनेसे अस्वीकार कर चुके होते हैं, वे ही उसे यों कहकर निमन्त्रित करते हैं कि 'आओ, हम तुम्हें देते हैं'॥ २॥

(प्राणोपासकको धन-प्राप्तिकी इच्छा होनेपर उसके लिये कर्तव्यका उपदेश करते हैं—) अब एकमात्र धन (प्राण)-के निरोधकी बात बतायी जाती है। यदि एकमात्र धनका (अथवा प्राणका) चिन्तन करे तो पूर्णिमाको या अमावास्याको अथवा शुक्ल या कृष्णपक्षकी किसी भी पुण्य-तिथिको पवित्र नक्षत्रमें अग्निकी स्थापना, (वेदीका) परिसमूहन (संस्कार), कुशोंका आस्तरण (बिछाना), मन्त्रपूत जलसे अग्नि-वेदी आदिका अभिषेक तथा अग्निपर रखे हुए पात्रस्थ घृतका उत्पवन (शोधन) करके दाहिना घुटना पृथ्वीपर टेककर स्रुवासे, चमससे

---

* जिसकी दृष्टिमें सांसारिक सुख अत्यन्त हेय हो, उसे 'कुषीतक' (कुत्सितं सीतं यस्य सः) कहते हैं और कुषीतकके पुत्रको 'कौषीतकि' कहते हैं।

अथवा काँसेकी करछुल आदिसे निम्नाङ्कित मन्त्रोंद्वारा घृतकी ये आहुतियाँ दे—

वाङ्नाम देवतावरोधिनी सा मेऽमुष्मात् ( )
इदम् अवरुन्धां तस्यै स्वाहा।

अर्थात् 'वाक्' नामसे प्रसिद्ध देवी अवरोधिनी—उपासककी अभीष्टसिद्धि करनेवाली है, वह मुझ प्राणोपासकके लिये अमुक व्यक्तिसे इस अभीष्ट अर्थकी सिद्धि कराये; उसके लिये यह घृतकी आहुति सादर समर्पित है। (उपर्युक्त मन्त्रका उच्चारण करके 'अमुष्मात्' के आगे दिये हुए कोष्ठकमें उस व्यक्तिके नामका उल्लेख करे, जिससे अभीष्ट अर्थ प्राप्त करना है तथा 'इदम्' के स्थानपर अभीष्ट अर्थका उच्चारण करे। आगेके मन्त्रोंका अर्थ भी इसी प्रकार समझना चाहिये।)

प्राणो नाम देवतावरोधिनी सा मेऽमुष्मात् इदम् अवरुन्धां तस्यै स्वाहा।

चक्षुर्नाम देवतावरोधिनी सा मेऽमुष्मात् इदम् अवरुन्धां तस्यै स्वाहा।

श्रोत्रं नाम देवतावरोधिनी सा मेऽमुष्मात् इदम् अवरुन्धां तस्यै स्वाहा।

मनो नाम देवतावरोधिनी सा मेऽमुष्मात् इदम् अवरुन्धां तस्यै स्वाहा।

प्रज्ञा नाम देवतावरोधिनी सा मेऽमुष्मात् इदम् अवरुन्धां तस्यै स्वाहा।

इस प्रकार आहुतियाँ देनेके पश्चात् धूमगन्धको सूँघकर होमावशिष्ट घृतके लेपसे अपने अङ्गोंका अनुमार्जन (लेपन) करके मौनभावसे धनस्वामीके पास जाय और अभीष्ट अर्थके विषयमें कहे कि 'इतने धनकी मुझे आवश्यकता है, सो आपके यहाँसे मिल जाना चाहिये।' अथवा यदि धनस्वामी दूर हो तो उक्त संदेश कहलानेके लिये उसके पास दूत भेज दे। यों करनेसे निश्चय ही वह अभीष्ट धन प्राप्त कर लेता है॥ ३॥

(इस प्रकार धन-प्राप्तिका उपाय बताकर अब उपासकके लिये वशीकरणका उपाय बतलाते हैं—)

अब इसके बाद वाक् आदि देवताओंद्वारा साध्य मनोरथकी सिद्धिका प्रकार बताया जाता है। जिस किसीका प्रिय होना चाहे, निश्चय ही उन सबका प्रिय होनेके लिये पहले प्राणोपासकको वाक् आदि देवताओंका ही प्रिय बनना चाहिये। किसी एक पर्वके दिन पूर्वोक्त रीतिसे शुभ पुण्यतिथि एवं मुहूर्तमें पहले बताये अनुसार ही अग्निकी स्थापना, परिसमूहन, कुशोंका आस्तरण, अग्निवेदी आदिका अभिषेक, घृतका उत्पवन आदि करके निम्नाङ्कित मन्त्रोंसे ये घृतकी आहुतियाँ दे—

वाचं ते मयि जुहोम्यसौ स्वाहा।

(इस मन्त्रका उच्चारण करनेके पहले उस व्यक्तिका नाम लेना चाहिये, जिसको वशमें करना हो; यथा—'**अमुकगोत्रस्य अमुकनामधेयस्य राज्ञः, अमुकगोत्राया अमुकनामधेयाया राज्ञ्या वा वाचं ते मयि जुहोमि असौ स्वाहा**' यों कहकर घृतकी आहुति डालनी चाहिये। '**असौ**' के बाद कार्यका उल्लेख करना आवश्यक है—'**यथा असौ कामः सिद्ध्यतु—स्वाहा।**')

मन्त्रार्थ—मैं तुम्हारी वाक्-इन्द्रियका अपनेमें हवन करता हूँ, मेरा अमुक कार्य सिद्ध हो जाय—इस उद्देश्यसे यह आहुति है। (इसी प्रकार अन्य मन्त्रोंका भी अर्थ समझना चाहिये।)

प्राणं ते मयि जुहोम्यसौ स्वाहा।
चक्षुस्ते मयि जुहोम्यसौ स्वाहा।
श्रोत्रं ते मयि जुहोम्यसौ स्वाहा।
मनस्ते मयि जुहोम्यसौ स्वाहा।
प्रज्ञां ते मयि जुहोम्यसौ स्वाहा।

इसके बाद होम-धूमकी गन्ध सूँघकर होमावशिष्ट घृतके लेपसे अपने अङ्गोंका अनुमार्जन (लेपन) करके मौनभावसे अभीष्ट व्यक्तिके पास गमन करे और उसके सम्पर्कमें जानेकी इच्छा करे अथवा ऐसी जगह खड़ा रहकर वार्तालाप करे, जहाँ वायुकी सहायतासे उसके शब्द अभीष्ट व्यक्तिके कानोंमें पड़ें। फिर तो निश्चय ही वह उसका प्रिय हो जाता है। इतना ही नहीं, उस स्थानसे हट जानेपर वहाँके लोग उसका सदा स्मरण करते हैं॥ ४॥

आध्यात्मिक अग्निहोत्र

अब इसके बाद दिवोदासके पुत्र प्रतर्दनद्वारा अनुष्ठित, अतएव 'प्रातर्दन' नामसे विख्यात और संयमसे पूर्ण होनेसे 'सांयमन' कहलानेवाले आध्यात्मिक अग्निहोत्रका वर्णन करते हैं। निश्चय ही मनुष्य जबतक कोई वाक्य बोलता है, तबतक पूर्णतया श्वास नहीं ले सकता। उस समय वह प्राणका वाणीरूप अग्निमें हवन कर देता है। जबतक पुरुष श्वास खींचता है, तबतक बोल नहीं सकता; उस समय वह वाणीका प्राणरूप अग्निमें हवन कर देता है।

ये वाक् और प्राणरूप दो आहुतियाँ अनन्त एवं अमृत हैं। (वाक् और प्राणके व्यापारोंका जीवनमें कभी अन्त नहीं होता, इसलिये ये अनन्त हैं तथा इनके व्यापारोंका जो एक-दूसरेमें लय होता है, उसमें अग्निहोत्र-बुद्धि हो जानेसे ये आहुतियाँ अमृतत्वरूप फलको देनेवाली होती हैं; इसलिये इन्हें 'अमृत' कहा गया है।) जाग्रत् और स्वप्नकालमें भी पुरुष सदा अविच्छिन्नरूपसे इन आहुतियोंका होम करता रहता है। इसके सिवा अर्थात् वाक्-प्राणरूपा आहुतियोंके अतिरिक्त जो दूसरी द्रव्यमयी आहुतियाँ हैं, वे कर्ममयी हैं। (स्वरूपसे और फलकी दृष्टिसे भी कृत्रिम हैं; वे पूर्वोक्त आहुतियोंकी भाँति अनन्त एवं अमृत नहीं हैं।) यह प्रसिद्ध है कि इस रहस्यको जाननेवाले पूर्ववर्ती विद्वान् केवल कर्ममय अग्निहोत्रका अनुष्ठान नहीं करते थे॥ ५॥

'उक्थ (प्राण) ब्रह्म है'—यह बात सुप्रसिद्ध महात्मा शुष्कभृङ्गार कहते हैं। वह उक्थ 'ऋक्' है, इस बुद्धिसे उपासना करे। जो प्राणरूप उक्थमें ऋग्बुद्धि कर लेता है, उसकी सम्पूर्ण प्राणी श्रेष्ठताके लिये—श्रेष्ठ बननेके लिये अर्चना करते हैं। वह उक्थ 'यजुर्वेद' है, इस बुद्धिसे उपासना करे। इससे सम्पूर्ण प्राणी श्रेष्ठताके लिये उसके साथ सहयोग करते हैं। वह उक्थ 'साम' है, इस बुद्धिसे उपासना करे। उस उपासकके समक्ष सम्पूर्ण प्राणी श्रेष्ठताके लिये मस्तक झुकाते हैं। वह उक्थ 'श्री' है, इस बुद्धिसे उपासना करे। वह 'यश' है, इस भावसे उपासना करे। वह 'तेज' है, इस भावसे उपासना करे। इस विषयमें यह दृष्टान्त है—जैसे यह दिव्य धनुष सम्पूर्ण आयुधोंमें अत्यन्त श्रीसम्पन्न, परम यशस्वी और परम तेजस्वी होता है, उसी प्रकार जो इस प्रकार जानता है वह विद्वान् सम्पूर्ण भूतोंमें सबसे अधिक श्रीसम्पन्न, परम यशस्वी तथा परम तेजस्वी होता है।

(जो यहाँ ईंटोंकी बनी हुई वेदी अथवा कुण्डमें स्थापित किया गया है, वह यज्ञकर्मका साधनभूत अग्नि भी प्राणस्वरूप ही है; क्योंकि प्राण ही ऋग्वेदादिरूप है। यह प्राण ही ऋग्वेदादिसाध्य कर्मोंका निष्पादक तथा मुझ अध्वर्युका भी स्वरूप है। इसलिये ऋग्वेदादिस्वरूप सर्वात्मा प्राण मैं हूँ, यह अग्नि भी मेरा ही स्वरूप है—इस बुद्धिसे अध्वर्यु अपना संस्कार करता है। इसी अभिप्रायसे कहते हैं—) इस प्राणको तथा ईंटोंकी वेदीपर संचित कर्ममय अग्निको भी अभिन्न एवं आत्मस्वरूप मानकर अध्वर्यु नामक ऋत्विक् अपना संस्कार करता है। उस प्राणमें ही वह यजुर्वेदसाध्य कर्मोंका विस्तार करता है। यजुर्वेदसाध्य कर्म-वितानमें होता ऋग्वेदसाध्य कर्मोंका विस्तार करता है। ऋग्वेदसाध्य कर्म-वितानमें उद्गाता सामवेदसाध्य कर्मोंका विस्तार करता है। वह अध्वर्युरूप यह प्राण सम्पूर्ण त्रयी-विद्याका आत्मा है। यह प्रत्यक्षगोचर प्राण ही इस त्रयी-विद्याका आत्मा बताया गया है। जो इस प्राणको इस रूपमें जानता है, वह भी प्राणरूप हो जाता है॥ ६॥

विविध उपासनाओंका वर्णन

अब सर्वविजयी कौषीतकिके द्वारा अनुभवमें लायी हुई तीन बार की जानेवाली उपासना बतायी जाती है। यज्ञोपवीतको सव्यभावसे—बायें कन्धेपर रखकर, आचमन करके जलपात्रको तीन बार शुद्ध स्वच्छ जलसे पूर्णतः भरकर उदयकालमें भगवान् सूर्यका उपस्थान करे, उनकी आराधनाके लिये खड़ा होकर अर्घ्य दे (अर्घ्य देते समय इस मन्त्रका उच्चारण करे—) '**वर्गोऽसि पाप्मानं मे वृङ्धि।**' (आत्मज्ञान होनेके कारण सम्पूर्ण जगत्को आप तृणकी भाँति त्याग देते हैं, इसलिये 'वर्ग' कहलाते हैं; मेरे पापको मुझसे दूर कीजिये।) इसी प्रकार मध्याह्नकालमें भी भगवान् सूर्यका उपस्थान करे। (उस समय इस मन्त्रका उच्चारण करना चाहिये—) '**उद्वर्गोऽसि पाप्मानं मे उद्वृङ्धि।**' (इस मन्त्रका अर्थ भी पूर्ववत् ही है।) फिर इसी प्रकार सायंकालमें अस्त होते हुए भगवान् सूर्यका निम्नाङ्कित मन्त्रसे उपस्थान करे—'**संवर्गोऽसि पाप्मानं मे संवृङ्धि।**' इस उपासनाका फल यह है कि मनुष्य दिन और रातमें जो पाप करता है, उसका पूर्णतः परित्याग कर देता है॥ ७॥

अब दूसरी उपासना बतायी जाती है। प्रत्येक मासकी अमावास्या तिथिको, जब सूर्यके पश्चिमभागमें उनकी सुषुम्णा नामक किरणमें चन्द्रमा स्थित दिखायी देते हैं (लौकिक नेत्रोंसे न दिखायी देनेपर भी शास्त्रतः देखे जाते हैं), उस समय उनका पूर्वोक्त प्रकारसे ही उपस्थान करे। विशेषता इतनी ही है कि अर्घ्यपात्रमें दो हरी दूबके अङ्कुर भी रख ले और उससे अर्घ्य देते हुए चन्द्रमाके प्रति '**यत्ते**' इत्यादि मन्त्ररूपा वाणीका

प्रयोग करे। (वह मन्त्र इस प्रकार है—)

यत्ते सुसीमं हृदयमधि चन्द्रमसि श्रितं तेनामृतत्वस्येशानं माहं पौत्रमघं रुदम्।

'हे सोममण्डलकी अधिष्ठात्री देवि! जिसकी सीमा बहुत ही सुन्दर है, ऐसा जो तुम्हारा हृदय—हृदयस्थित आनन्दमय स्वरूप चन्द्रमण्डलमें विराजित है, उसके द्वारा तुम अमृतत्व (परमानन्दमय मोक्ष)-पर भी अधिकार रखती हो। ऐसी कृपा करो, जिससे मुझे पुत्रके शोकसे न रोना पड़े।' (पुत्रका पहलेसे ही अभाव होना, पुत्रका पैदा होकर मर जाना या रुग्ण रहना अथवा पुत्रका कुपुत्र हो जाना आदिके कारण जो घोर दुःख होता है, यही पुत्र-शोक है; इन सबसे छूटनेके लिये इस मन्त्रमें प्रार्थना की गयी है।)

यों करनेवाले उपासकको यदि पुत्र प्राप्त हो चुका हो तो उसके उस पुत्रकी उससे पहले मृत्यु नहीं होती। यदि उसके कोई पुत्र न हुआ हो तो वह भी पहलेकी ही भाँति सब कार्य करके अर्घ्यपात्रमें दो हरी दूबके अङ्कुर भी रख ले और निम्नाङ्कित ऋचाओंका जप करे—

'आप्यायस्व समेतु ते विश्वतः सोम वृष्ण्यं भवा वाजस्य संगथे।'[1]

'सं ते पयांसि समु यन्तु वाजा संवृष्ण्यान्य-भिमातिषाहः। आप्यायमानो अमृताय सोम दिवि श्रवां-स्युत्तमानि धिष्व॥'[2]

'यमादित्या अंशुमाप्याययन्ति यमक्षितमक्षितयः पिबन्ति। तेन नो राजा वरुणो बृहस्पतिराप्याययन्तु भुवनस्य गोपाः॥'[3]

—इन तीन ऋचाओंका जप करनेके पश्चात् चन्द्रमाके सम्मुख दाहिना हाथ उठाये और निम्नाङ्कित मन्त्रका पाठ करे—

मास्माकं प्राणेन प्रजया पशुभिराप्यायिष्ठा योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तस्य प्राणेन प्रजया पशुभिराप्याययस्व इति दैवीमावृतमावर्त आदित्य-स्यावृतमन्वावर्ते इति।[4]

—यों कहकर अपनी दाहिनी बाँहका अन्वावर्तन करे—बारम्बार घुमाये। तत्पश्चात् बाँह खींच ले॥ ८॥

अब अन्य प्रकारकी उपासना बतायी जाती है—पूर्णिमाको सायंकालमें जब प्राची दिशाके अङ्कमें चन्द्रदेवका दर्शन होने लगे, उस समय इसी रीतिसे (जो पहले बतायी गयी है) चन्द्रमाका उपस्थान करे—उन्हें अर्घ्य प्रदान करे। उपस्थानके समय निम्नाङ्कित मन्त्रोंका पाठ भी करे—

सोमो राजासि विचक्षणः पञ्चमुखोऽसि प्रजापतिर्ब्राह्मणस्त एकं मुखं तेन मुखेन राज्ञोऽत्सि तेन मुखेन मामन्नादं कुरु। राजा त एकं मुखं तेन मुखेन विशोऽत्सि तेन मुखेन मामन्नादं कुरु। श्येनस्त एकं मुखं तेन मुखेन पक्षिणोऽत्सि तेन मुखेन मामन्नादं कुरु। अग्निष्ट एकं मुखं तेन मुखेनेमं लोकमत्सि तेन मुखेन मामन्नादं कुरु। त्वयि पञ्चमं मुखं तेन मुखेन सर्वाणि

---

१. हे स्त्रीरूप सोम! तुम पुरुषरूप सूर्यके तेजसे वृद्धिको प्राप्त होओ। पुरुषकी उत्पत्तिका हेतुभूत जो वीर्य—अग्निसम्बन्धी तेज है, वह तुममें स्थापित हो। (तुम अन्न आदि ओषधियोंके भी स्वामी हो, अतः) सब ओरसे अन्नकी प्राप्तिमें निमित्त बनो।

२. हे सोम! तुम सोममयी प्रकृति हो; तुम्हारा उत्तम दुग्ध अथवा जल (जो माताके स्तनोंमें दुग्धरूपसे, चन्द्रमण्डलमें सोमरस अथवा सुधारूपसे तथा मेघमण्डलमें स्वादिष्ठ जलके रूपमें स्थित है) पुरुषमात्रके लिये अत्यन्त उपकारक है तथा उसका सेवन करनेवाले पुरुषोंको पुष्टि प्रदान करके उनके शत्रुओंका पराभव करानेमें भी समर्थ है। वे दुग्ध और जल अन्नसे जीवन-निर्वाह करनेवाले—निरामिषभोजी जीवोंको सुगमतापूर्वक प्राप्त होते रहें। आग्नेय तेजसे आह्लादको प्राप्त होते हुए तुम अमृतत्वकी प्राप्तिमें सहायक बनो और स्वर्गलोकमें उत्तम यशको धारण करो।

३. द्वादश आदित्यरूप पुरुष जिस स्त्री-प्रकृतिमय अमृतांशु सोमको अपने तेजसे आह्लाद प्रदान करते हैं तथा स्वयं अक्षीण रहकर कभी क्षीण न होनेवाले जिस सोमका (दुग्ध और जलके रूपमें) पान करते हैं, उस सोममय अंशुसे, त्रिभुवनकी रक्षा करनेवाले राजा वरुण और बृहस्पति हमलोगोंको आनन्द एवं पुष्टि प्रदान करें।

४. 'हे सोम! तुम हमारे प्राण, संतान और पशुओंसे अपनी पुष्टि एवं तृप्ति न करो; अपितु जो हमसे द्वेष रखता है, अतएव हम भी जिससे द्वेष रखते हैं, उसके प्राणसे, संतानसे और पशुओंसे अपनी पुष्टि एवं तृप्ति करो। इस प्रकार इस मन्त्रके अर्थभूत देवतासे सम्पादित होनेवाली संचरण-क्रियाका मैं अनुवर्तन करता हूँ—उसीका चलाया हुआ चलता हूँ। अग्नीषोमात्मक सोम! मैं तुम्हारी संचरणक्रियाका अनुवर्तन करता हूँ अर्थात् तुम्हारी ही गतिका अनुसरण करता हूँ।'

भूतान्यत्सि तेन मुखेन मामन्नादं कुरु। मास्माकं प्राणेन प्रजया पशुभिरवक्षेष्ठा योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तस्य प्राणेन प्रजया पशुभिरवक्षीयस्वेति, दैवीमावृतमावर्त, आदित्यस्यावृतमन्वावर्ते।[1]

इस प्रकार मन्त्रपाठ करते हुए दाहिनी बाँहका अन्वावर्तन करे॥ ९॥

इस तरह सोमकी प्रार्थनाके पश्चात् (गर्भाधानके लिये) पत्नीके समीप बैठनेसे पूर्व उसके हृदयका स्पर्श करे। उस समय निम्नाङ्कित मन्त्रका पाठ करना चाहिये—

यत्ते सुसीमे हृदये हितमन्तः प्रजापतौ। मन्येऽहं मां तद्विद्वांसं तेन माहं पौत्रमघं रुदम्।

'हे सुन्दर सीमन्त (माँग)-वाली सुन्दरी! तुम सोममयी हो, तुम्हारा हृदय (स्तन-मण्डल) प्रजा—संततिका पालक (पोषक) है; उसके भीतर जो चन्द्रमण्डलकी ही भाँति अमृतराशि निहित है, उसे मैं जानता हूँ, अपनेको उसका जाननेवाला मानता हूँ। इस सत्यके प्रभावसे मैं कभी पुत्रसम्बन्धी शोकसे रोदन न करूँ (मुझे पुत्रशोक कभी देखना न पड़े)।'

इस प्रकार प्रार्थना करनेसे उस उपासकके पहले उसकी संतानकी मृत्यु नहीं होती॥ १०॥

अब दूसरी उपासना बतायी जाती है—परदेशमें रहकर वहाँसे लौटा हुआ पुरुष पुत्रके मस्तकका स्पर्श करे और इस मन्त्रको पढ़े—

अङ्गादङ्गात्सम्भवसि हृदयादधिजायसे।
आत्मा त्वं पुत्र[2] माऽऽविथ स जीव शरदः शतम् असौ॥

'अमुक नामवाले पुत्र! तुम नरकसे तारनेवाले हो। मेरे अङ्ग-अङ्गसे प्रकट हुए हो। मेरे हृदयसे तुम्हारा आविर्भाव हुआ है। तुम मेरे अपने ही स्वरूप हो। तुमने मेरी (नरकसे) रक्षा की है। तुम सौ वर्षोंतक जीवित रहो।'

यहाँ '**असौ**' के स्थानपर पुत्रका नाम उच्चारण करना चाहिये और नामोच्चारणके समय निम्नांकित मन्त्र पढ़ना चाहिये—

अश्मा भव परशुर्भव हिरण्यमस्तृतं भव। तेजो वै पुत्र नामासि स जीव शरदः शतम् असौ।[3]

यहाँ पुनः '**असौ**' के स्थानपर पुत्रका नाम लेना चाहिये। साथ ही निम्नाङ्कित मन्त्रका पाठ भी करना चाहिये—

'**येन प्रजापतिः प्रजाः पर्यगृह्णादरिष्ट्यै तेन त्वा परिगृह्णामि असौ।**[4]'

यहाँ भी '**असौ**' के स्थानपर पुत्रका नामोच्चारण करे। तत्पश्चात् पुत्रके दाहिने कानमें इस मन्त्रका जप करे—

अस्मै प्रयन्धि मघवन्नृजीषिन्, इन्द्र श्रेष्ठानि द्रविणानि धेहि।[5]

---

१. विश्वकी स्त्री-पुरुषरूपा प्रकृति—उमाके साथ वर्तमान तुम सोम राजा हो। विचक्षण—सम्पूर्ण लौकिक, वैदिक कार्योंके साधनमें कुशल हो। तुम पञ्चमुख—पाँच मुखवाले हो। प्रजापति—समस्त प्रजाका पालन करनेवाले हो। ब्राह्मण तुम्हारा एक मुख है, उस मुखसे तुम क्षत्रियोंका भक्षण करते हो—दमन करते हो; उस मुखके द्वारा तुम मुझे अन्नको खाने और पचानेकी शक्तिसे सम्पन्न बनाओ। क्षत्रिय तुम्हारा एक मुख है, उस मुखसे तुम वैश्योंका भक्षण—शासन करते हो; उस मुखसे तुम मुझे अन्नका भक्षण करने और उसे पचानेकी शक्तिसे सम्पन्न बनाओ। बाज तुम्हारा एक मुख है, उस मुखसे तुम पक्षियोंका भक्षण—संहार करते हो; उस मुखसे मुझे अन्नका भोक्ता बनाओ। अग्नि तुम्हारा एक मुख है, उस मुखसे तुम इस लोकका भक्षण करते हो, उस मुखसे मुझे भी अन्नका भोक्ता बनाओ। पाँचवाँ मुख तो तुममें ही है, उस मुखसे तुम सम्पूर्ण प्राणियोंका भक्षण—संहार करते हो, उस मुखसे मुझे भी अन्नका भोक्ता बनाओ। तुम प्राण, संतान और पशुओंसे हमें क्षीण न करो; अपितु जो हमसे द्वेष रखता है, अतएव हम भी जिससे द्वेष रखते हैं, उसे प्राण, संतान एवं पशुओंसे क्षीण करो। (शेष मन्त्रका अर्थ ऊपरकी तरह समझना चाहिये।)

२. पुत्रका अर्थ ही है—पुत् नामके नरकसे रक्षा करनेवाला (पुन्नाम्नः नरकात् त्रायते)।

३. मन्त्रार्थ इस प्रकार है—'वत्स! तुम पत्थर बनो, कुठार बनो और बिछा हुआ सुवर्ण बनो (अर्थात् तुम्हारा शरीर पत्थरके समान सुगठित, बलवान्, स्वस्थ एवं नीरोग हो। तुम कुठारकी भाँति शत्रुओंका नाश करनेवाले बनो और सब ओर फैली हुई सुवर्णराशिकी भाँति सबके प्रिय बनो। समस्त अङ्गोंका सारभूत, संसार-वृक्षका बीजरूप जो तेज है, वह तुम्हीं हो; तुम सैकड़ों वर्ष जीवित रहो।)'

४. वत्स! प्रजापति ब्रह्माजी अपनी सृष्टिको विनाशसे बचानेके लिये उसे जिस तेजसे सम्पन्न करके परिगृहीत अथवा अनुगृहीत करते हैं, उसी तेजसे सम्पन्न करके मैं तुम्हें सब ओरसे ग्रहण करता हूँ।

५. मघवन्! आप सरल भावका अवलम्बन करके इस पुत्रकी रक्षा करें। इन्द्र! इसे श्रेष्ठ धन प्रदान करें।

फिर इसी मन्त्रको बायें कानमें भी जपे। तदनन्तर पुत्रका मस्तक सूँघे और इस मन्त्रको पढ़े—

माच्छिथा मा व्यथिष्ठाः शतं शरद आयुषो जीव पुत्र ते नाम्ना मूर्धानमवजिघ्रामि, असौ।

'बेटा! संतान-परम्पराका उच्छेद न करना। मन, वाणी और शरीरसे तुम्हें कभी पीड़ा न हो। तुम सौ वर्षोंतक जीवित रहो। मैं तुम्हारा अमुक नामसे प्रसिद्ध पिता तुम्हारा नाम लेकर तुम्हारे मस्तकको सूँघ रहा हूँ।' (यहाँ '**असौ**' के स्थानपर पिता अपना नाम ले।) इस मन्त्रको पढ़कर तीन बार पुत्रका मस्तक सूँघना चाहिये। इसके बाद नीचे लिखा मन्त्र पढ़कर मस्तकके सब ओर तीन बार हिंकार ('हिम्' शब्दका) उच्चारण करे। मन्त्र इस प्रकार है—

गवां त्वा हिङ्कारेणाभि हिङ्करोमि।

'वत्स! गौएँ अपने बछड़ेको बुलानेके लिये जैसे रँभाती हैं, उसी प्रकार—वैसे ही प्रेमसे मैं भी तुम्हारे लिये हिङ्कार करता हूँ—'हिङ्कारद्वारा तुम्हें अपने पास बुलाता हूँ'॥ ११॥

दैवपरिमररूपमें प्राणकी उपासना

अब इसके बाद देव-सम्बन्धी 'परिमर' का वर्णन किया जाता है। (यहाँ अग्नि और वाक् आदि ही देवता हैं; ये देवता प्राणके सब ओर मृत्युको प्राप्त होते हैं, अतः ब्रह्मस्वरूप प्राणको ही यहाँ 'परिमर' कहा गया है।) यह जो प्रत्यक्ष रूपमें अग्नि प्रज्वलित है, इस रूपमें ब्रह्म ही देदीप्यमान हो रहा है। जब अग्नि प्रज्वलित नहीं होती, उस अवस्थामें यह मर जाती है—बुझ जाती है। उस बुझी हुई अग्निका तेज सूर्यमें ही मिल जाता है और प्राण वायुमें प्रवेश कर जाता है। यह जो सूर्य दृष्टिगोचर होता है, निश्चय ही इस रूपमें ब्रह्म ही प्रकाशित हो रहा है। जब यह नहीं दिखायी देता, तब मानो मर जाता है। उस समय उसका तेज चन्द्रमाको ही प्राप्त होता और प्राण वायुमें मिल जाता है। यह जो चन्द्रमा दिखायी देता है, निश्चय ही इसके रूपमें ब्रह्म ही प्रकाशित हो रहा है। फिर जब यह नहीं दिखायी देता, तब मानो यह मर जाता है। उस समय उसका तेज विद्युत्को ही और प्राण वायुको प्राप्त हो जाता है। यह जो बिजली कौंधती है, निश्चय ही इसके रूपमें यह ब्रह्म ही प्रकाशित हो रहा है। फिर जब यह नहीं कौंधती, तब मानो मर जाती है; उस समय उसका तेज वायुको प्राप्त होता है और प्राण भी वायुमें ही प्रवेश कर जाता है।

वे प्रसिद्ध अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा तथा विद्युत्-स्वरूप सम्पूर्ण देवता वायुमें ही प्रवेश करके स्थित होते हैं। वायु (आधिदैविक प्राण)-में विलीन होकर वे विनष्ट नहीं होते; क्योंकि पुनः उस वायुसे ही उनका प्रादुर्भाव होता है। इस प्रकार आधिदैविक दृष्टि है। अब आध्यात्मिक दृष्टि बतायी जाती है॥ १२॥

मनुष्य वाणीसे जो बातचीत करता है, यह मानो ब्रह्म ही प्रकाशित हो रहा है। जब यह नहीं बोलता, उस समय मानो यह वाक्-इन्द्रिय मर जाती है। उस समय वाणीका तेज नेत्रको प्राप्त हो जाता है और प्राण प्राणवायुमें मिल जाता है। यह मनुष्य नेत्रद्वारा जो देखता है, यह मानो ब्रह्म ही प्रकाशित हो रहा है। जब नेत्रसे नहीं देखता, उस समय मानो नेत्रेन्द्रिय मर जाती है। उस समय नेत्रका तेज श्रवणेन्द्रियको प्राप्त हो जाता है तथा प्राण प्राणमें ही मिल जाता है। यह जो श्रवणद्वारा सुनता है, यह मानो ब्रह्म ही प्रकाशित हो रहा है; जब यह नहीं सुनता, तब मानो श्रवणेन्द्रिय मर जाती है। उस समय उसका तेज मनको ही प्राप्त हो जाता है और प्राण प्राणमें मिल जाता है। यह जो मनसे ध्यान (चिन्तन) करता है, यह मानो ब्रह्म ही प्रकाशित हो रहा है। जब चिन्तन नहीं करता, तब मानो मन मर जाता है। उस समय उसका तेज प्राणको ही प्राप्त हो जाता है और प्राण भी प्राणमें ही मिल जाता है।

इस प्रकार ये सम्पूर्ण वाक् आदि देवता प्राणमें ही प्रवेश करके स्थित होते हैं। प्राणमें लीन होकर वे नष्ट नहीं होते। अतएव पुनः प्राणसे ही उनका प्रादुर्भाव होता है।

उस दैव परिमर (प्राण)-का सम्यग्ज्ञान हो जानेपर यदि वे ज्ञानी पुरुष ऐसे दो ऊँचे पर्वतोंको,

जो भूमण्डलके उत्तरी सिरेसे लेकर दक्षिणी सिरेतक फैले हों, अपनी इच्छाके अनुसार चलनेको प्रेरित करें तो वे पर्वत इन ज्ञानी महापुरुषोंकी हिंसा—उनकी आज्ञाका परित्याग अर्थात् उनकी अवहेलना नहीं कर सकते।

इसके सिवा, जो लोग इस 'दैवपरिमर' के ज्ञाता पुरुषसे द्वेष करते हैं अथवा वह स्वयं जिन लोगोंसे द्वेष रखता हो, वे सब-के-सब सर्वथा नष्ट हो जाते हैं॥ १३॥

मोक्षके लिये सर्वश्रेष्ठ प्राणकी उपासना

इसके पश्चात् अब मोक्ष-साधनके गुणसे विशिष्ट सर्वश्रेष्ठ प्राणकी उपासना बतायी जाती है। एक समय वाक् आदि सम्पूर्ण देवता अहङ्कारवश अपनी-अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करनेके लिये विवाद करने लगे। वे सब प्राणके साथ ही इस शरीरसे निकल गये। उनके निकल जानेपर वह शरीर काठकी भाँति निश्चेष्ट होकर सो गया। तदनन्तर उस शरीरमें वाक्-इन्द्रियने प्रवेश किया। तब वह वाणीसे बोलने तो लगा, परंतु उठ न सका, सोया ही रह गया। तत्पश्चात् चक्षु-इन्द्रियने उस शरीरमें प्रवेश किया। तथापि वह वाणीसे बोलता और नेत्रसे देखता हुआ भी सोता ही रहा, उठ न सका। तब उस शरीरमें श्रवण-इन्द्रियने प्रवेश किया। उस समय भी वह वाणीसे बोलता, नेत्रसे देखता और कानोंसे सुनता हुआ भी सोता ही रहा, उठकर बैठ न सका। तदनन्तर उस शरीरमें मनने प्रवेश किया। तब भी वह शरीर वाणीसे बोलता, नेत्रसे देखता, कानसे सुनता और मनसे चिन्तन करता हुआ भी पड़ा ही रहा। तत्पश्चात् प्राणने उस शरीरमें प्रवेश किया। फिर तो उसके प्रवेश करते ही वह शरीर उठ बैठा। तब उन वाक् आदि देवताओंने प्राणमें ही मोक्ष-साधनकी शक्ति जानकर तथा प्रज्ञास्वरूप प्राणको ही सब ओर व्याप्त समझकर इन प्राण-अपान आदि समस्त प्राणोंके साथ ही इस शरीररूप लोकसे उत्क्रमण किया।

वे वायुमें—आधिदैविक प्राणमें स्थित हो आकाशस्वरूप होकर स्वर्गलोकमें गये—अपने अधिष्ठातृ-देवता अग्नि आदिके स्वरूपको प्राप्त हो गये। उसी प्रकार इस रहस्यको जाननेवाला विद्वान् सम्पूर्ण भूतोंके प्राणको ही प्रज्ञात्मारूपसे प्राप्तकर इन प्राण-अपान आदि समस्त प्राणोंके साथ इस शरीरसे उत्क्रमण करता है तथा वह वायुमें प्रतिष्ठित हो आकाशस्वरूप होकर स्वर्गलोकको गमन करता है। वह विद्वान् वहाँ उस सुप्रसिद्ध प्राणका स्वरूप हो जाता है जिसमें कि ये वाक् आदि देवता स्थित होते हैं। उस प्राणस्वरूपको प्राप्तकर वह विद्वान् प्राणके उस अमृतत्व-गुणसे युक्त हो जाता है, जिस अमृतत्व-गुणसे वे वाक् आदि देवता भी संयुक्त होते हैं॥ १४॥

प्राणोपासकका सम्प्रदान-कर्म

अब इसके पश्चात् पिता-पुत्रका सम्प्रदान-कर्म बतलाते हैं (पिता पुत्रको अपनी जीवन-शक्ति प्रदान करता है; अतएव इसको पितापुत्रीय सम्प्रदान-कर्म कहते हैं)। पिता यह निश्चय करके कि अब मुझे इस लोकसे प्रयाण करना है, पुत्रको अपने समीप बुलाये। नूतन कुश-कास आदि तृणोंसे अग्निशालाको आच्छादित करके विधिपूर्वक अग्निकी स्थापना करे। अग्निके उत्तर या पूर्वभागमें जलसे भरा हुआ कलश स्थापित करे। कलशके ऊपर धान्यसे भरा हुआ पात्र भी होना चाहिये। स्वयं भी नवीन धौत (धोती) और उत्तरीय धारण करे। इस प्रकार श्वेत वस्त्र और माला आदिसे अलङ्कृत हो घरमें आकर पुत्रको पुकारे। जब पुत्र समीप आ जाय तो सब ओरसे उसके ऊपर पड़ जाय अर्थात् उसे अङ्कमें भर ले और अपनी इन्द्रियोंसे उसकी इन्द्रियोंका स्पर्श करे (तात्पर्य यह कि नेत्रसे नेत्रका, नाकसे नाकका तथा अन्य इन्द्रियोंसे उसकी अन्य इन्द्रियोंका स्पर्श करे।) अथवा केवल पुत्रके सम्मुख बैठ जाय और उसे अपनी वाक्-इन्द्रिय आदिका दान करे।

पिता कहे—'वाचं मे त्वयि दधानि' (बेटा! मैं तुममें अपनी वाक्-इन्द्रिय स्थापित करता हूँ)।

पुत्र उत्तर दे—'वाचं ते मयि दधे' (पिताजी! मैं आपकी वाक्-इन्द्रियको अपनेमें धारण करता हूँ)।

पिता—'प्राणं मे त्वयि दधानि' (मैं अपने प्राणको तुममें स्थापित करता हूँ)।

पुत्र—'प्राणं ते मयि दधे' (आपके प्राण—घ्राणेन्द्रियको अपनेमें धारण करता हूँ)।

पिता—'चक्षुर्मे त्वयि दधानि' (अपनी चक्षु-इन्द्रियको तुममें स्थापित करता हूँ)।

पुत्र—'चक्षुस्ते मयि दधे' (आपके चक्षुको अपनेमें धारण करता हूँ)।

पिता—'श्रोत्रं मे त्वयि दधानि' (अपने श्रोत्रको तुममें स्थापित करता हूँ)।

पुत्र—'श्रोत्रं ते मयि दधे' (आपके श्रोत्रको अपनेमें धारण करता हूँ)।

पिता—'अन्नरसान्मे त्वयि दधानि' (अपने अन्नके रसोंको तुममें स्थापित करता हूँ)।

पुत्र—'अन्नरसांस्ते मयि दधे' (आपके अन्नरसोंको अपनेमें धारण करता हूँ)।

पिता—'कर्माणि मे त्वयि दधानि' (अपने कर्मोंको तुममें स्थापित करता हूँ)।

पुत्र—'कर्माणि ते मयि दधे' (आपके कर्मोंको अपनेमें धारण करता हूँ)।

पिता—'सुखदुःखे मे त्वयि दधानि' (अपने सुख और दुःखको तुममें स्थापित करता हूँ)।

पुत्र—'सुखदुःखे ते मयि दधे' (आपके सुख और दुःखको अपनेमें धारण करता हूँ)

पिता—'आनन्दं रतिं प्रजातिं मे त्वयि दधानि' (मैथुनजनित आनन्द, रति और सन्तानोत्पत्तिकी शक्ति तुममें स्थापित करता हूँ)।

पुत्र—'आनन्दं रतिं प्रजातिं ते मयि दधे' (आपकी वह शक्ति मैं अपनेमें धारण करता हूँ)।

पिता—'इत्या मे त्वयि दधानि' (अपनी गतिशक्ति मैं तुममें स्थापित करता हूँ)।

पुत्र—'इत्यास्ते मयि दधे' (आपकी गतिशक्ति अपनेमें धारण करता हूँ)।

पिता—'धियो विज्ञातव्यं कामान् मे त्वयि दधानि' (अपनी बुद्धि-वृत्तियोंको, बुद्धिके द्वारा ज्ञातव्य विषयको तथा विशेष कामनाओंको तुममें स्थापित करता हूँ)।

पुत्र—'धियो विज्ञातव्यं कामांस्ते मयि दधे' (आपकी बुद्धि-वृत्तियोंको, बुद्धिके द्वारा ज्ञातव्य विषयोंको तथा कामनाओंको मैं अपनेमें धारण करता हूँ)।

तदनन्तर पुत्र पिताकी प्रदक्षिणा करते हुए पूर्व दिशाकी ओर पिताके समीपसे निकलता है। उस समय पिता पीछेसे पुत्रको सम्बोधित करके कहते हैं—

'यशो ब्रह्मवर्चसमन्नाद्यं कीर्तिस्त्वा जुषताम्।'

'यश, ब्रह्मतेज, अन्नको खाने और पचानेकी शक्ति तथा उत्तम कीर्ति—ये समस्त सद्गुण तुम्हारा सेवन करें।'

पिताके यों कहनेपर पुत्र अपने बायें कन्धेकी ओर दृष्टि घुमाकर देखे और हाथसे ओट करके अथवा कपड़ेसे आड़ करके पिताको उत्तर दे—

'स्वर्गान् लोकान् कामान् अवाप्नुहि'

'आप अपनी इच्छाके अनुसार कमनीय स्वर्गलोक तथा वहाँके भोगोंको प्राप्त करें।'

इसके बाद यदि पिता नीरोग हो तो वह पुत्रके प्रभुत्वमें ही वहाँ निवास करे (पुत्रको घरका स्वामी समझे और अपनेको उसके आश्रित माने) अथवा सब कुछ त्यागकर घरसे निकल जाय—संन्यासी हो जाय। अथवा यदि वह परलोकगामी हो जाय तो जिन-जिन वाक् आदि इन्द्रियोंको उसने पुत्रमें स्थापित किया था; उन सभीकी शक्तियोंका वह पुत्र उसी प्रकार आश्रय हो जाता है। वे सभी शक्तियाँ उसे प्राप्त होती हैं (यही सच्चा उत्तराधिकार है)॥ १५॥

॥ द्वितीय अध्याय समाप्त॥ २॥

मन ही बन्धन-मोक्षका कारण है

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
बन्धाय विषयासक्तं मुक्तं निर्विषयं स्मृतम्॥

(ब्रह्मबिन्दु० २। ३)

मनुष्योंके बन्ध और मोक्षमें मन ही कारण है; विषयासक्त मन बन्धनके लिये है और निर्विषय मन ही मुक्त माना जाता है।

ॐ

तृतीय अध्याय

इन्द्र-प्रतर्दन-संवाद; प्रज्ञास्वरूप प्राणकी महिमा

ॐ यह प्रसिद्ध है कि राजा दिवोदासके पुत्र प्रतर्दन (देवासुर-संग्राममें देवताओंकी सहायता करनेके लिये) देवराज इन्द्रके प्रिय धाम स्वर्गलोकमें गये। वहाँ उनकी अनुपम युद्धकला और पुरुषार्थसे संतुष्ट होकर इन्द्रने उनसे कहा—'प्रतर्दन! बोलो, मैं तुम्हें क्या वर दूँ?' तब वे प्रसिद्ध वीर प्रतर्दन बोले—'देवराज! जिस वरको आप मनुष्यजातिके लिये परम कल्याणमय मानते हों, वैसा कोई वर मेरे लिये आप स्वयं ही वरण करें।' यह सुनकर इन्द्रने कहा—'राजन्! लोकमें यह सर्वत्र विदित है कि कोई भी दूसरेके लिये वर नहीं माँगता; अतः तुम्हीं अपने लिये कोई वर माँगो।' प्रतर्दन बोला—'तब तो मेरे लिये वरका अभाव ही रह गया।' (क्योंकि आप स्वयं तो वर माँगेंगे नहीं; और 'मुझे क्या माँगना चाहिये'—इसका मुझको ज्ञान ही नहीं है। ऐसी दशामें मुझे वर मिलनेसे रहा।) प्रतर्दनके ऐसा कहनेपर निश्चय ही देवराज इन्द्र अपने सत्यसे विचलित नहीं हुए; (वे वर देनेकी प्रतिज्ञा कर चुके थे, अतः प्रतर्दनके न माँगनेपर भी अपनी ही ओरसे वर देनेको उद्यत हो गये।) क्योंकि इन्द्र सत्यस्वरूप हैं।

उन प्रसिद्ध देवता इन्द्रने कहा—'प्रतर्दन! तुम मुझे ही जानो—मेरे ही यथार्थ स्वरूपको समझो। इसे ही मैं मनुष्यजातिके लिये परमकल्याणमय वर मानता हूँ कि वह मुझे भलीभाँति जाने।'

(यदि कहो, आपमें ऐसी क्या विशेषता है? तो सुनो; मैंने प्राणब्रह्मके साथ तादात्म्य प्राप्त कर लिया है; अतएव मुझमें कर्तापनका अभिमान नहीं है, मेरी बुद्धि कहीं भी लिप्त नहीं होती। कर्मफलकी इच्छा मेरे मनमें कभी उत्पन्न ही नहीं होती, अतएव कोई भी कर्म मुझे बन्धनमें नहीं डालता।* इसी अभिप्रायसे कहते हैं—)

'मैंने त्वष्टा प्रजापतिके पुत्र विश्वरूपको, जिसके तीन मस्तक थे, वज्रसे मार डाला। कितने ही (मिथ्या) संन्यासियोंको, जो अपने आश्रमोचित आचारसे भ्रष्ट एवं बहिर्मुख (ब्रह्मविचारसे विमुख) हो चुके थे, टुकड़े-टुकड़े करके भेड़ियोंको बाँट दिया। कितनी ही बार प्रह्लादके परिचारक दैत्य राजाओंको मौतके घाट उतार दिया। पुलोमासुरके परिचारक दानवों तथा पृथिवीपर रहनेवाले कालखाञ्ज नामक बहुत-से असुरोंका भी समस्त विघ्न-बाधाओंका अतिक्रम करके संहार कर डाला। परंतु इतनेपर भी (अहङ्कार और कर्मफलकी कामनासे शून्य होनेके कारण) मुझ प्रसिद्ध देवराज इन्द्रके एक रोमको भी हानि नहीं पहुँची। मेरा एक बाल भी बाँका नहीं हुआ। इसी प्रकार जो मुझे भलीभाँति जान ले, उसके पुण्यलोकको किसी भी कर्मसे हानि नहीं पहुँचती।

'मेरे स्वरूपका ज्ञान रखनेवाले पुरुषको बड़े-से-बड़ा पाप भी हानि नहीं पहुँचा सकता। अधिक क्या कहूँ, उसे पाप लगता ही नहीं। पाप करनेकी इच्छा होनेपर भी उसके मुखसे नील आभा नहीं प्रकट होती—उसका मुँह काला नहीं होता'॥ १॥

(यह कथन अहङ्कारसे सर्वथा शून्य ब्रह्मज्ञानीकी महत्ता बतलानेके लिये है, न कि पाप कर्मोंका समर्थन करनेके लिये। वस्तुतः अहङ्काररहित राग-द्वेषशून्य पुरुषसे पापकार्य बननेका ही कोई हेतु नहीं होता।)

वे प्रसिद्ध देवराज इन्द्र बोले—"मैं प्रज्ञास्वरूप प्राण हूँ। उस प्राण एवं प्रज्ञात्मारूपमें विदित मुझ इन्द्रकी तुम 'आयु और अमृत' रूपसे उपासना करो।" (अर्थात् समस्त प्राणियोंकी आयु एवं जीवनभूत जो प्राण है, जो मृत्युसे रहित अमृतपद है, वह मुझ इन्द्रसे भिन्न नहीं है—यों समझकर मेरी उपासना करो।)

'आयु प्राण है। प्राण ही आयु है तथा प्राण ही अमृत है। जबतक इस शरीरमें प्राण निवास करता है, तबतक ही आयु है। प्राणसे ही प्राणी परलोकमें अमृतत्वके सुखका अनुभव करता है।'

'प्रज्ञासे मनुष्य सत्यका निश्चय और संकल्प-विकल्प करता है। जो 'आयु' और 'अमृत' रूपसे मुझ

---

* न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा । इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते॥
यस्य नाहङ्कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते । हत्वापि स इमाँल्लोकान् न हन्ति न निबध्यते॥ (गीता ४। १४; १८। १७)

इन्द्रकी उपासना करता है, वह इस लोकमें पूरी आयुतक जीवित रहता है तथा स्वर्गलोकमें जानेपर अक्षय अमृतत्वका सुख भोगता है।'

'इस प्राणके विषयमें निश्चय ही कोई-कोई विद्वान् इस प्रकार कहते हैं—अवश्य ही सब प्राण (वाक् आदि समस्त इन्द्रियाँ और प्राण) एकीभावको प्राप्त होते हैं। कोई भी मनुष्य एक ही समय वाणीसे नाम सूचित करने, नेत्रसे रूप देखने, कानसे शब्द सुनने और मनसे चिन्तन करनेमें समर्थ नहीं हो सकता; इससे सिद्ध होता है कि अवश्य ही समस्त प्राण एकीभावको प्राप्त होते हैं—एक होकर कार्य करते हैं। ये सब एक-एक विषयका बारी-बारीसे अनुभव कराते हैं।'

'जब वाणी बोलने लगती है, उस समय अन्य सब प्राण मौन होकर उसका अनुमोदन करते हैं। जब नेत्र देखने लगता है, तब अन्य सब प्राण भी उसके पीछे रहकर देखते हैं। जब कान सुनने लगता है, तब अन्य सब प्राण भी उसका अनुसरण करते हुए सुनते हैं, जब मन चिन्तन करने लगता है तो अन्य सब प्राण भी उसके साथ रहकर चिन्तन करते हैं तथा मुख्य प्राण जब अपना व्यापार करता है, तब अन्य प्राण भी उसके साथ-साथ वैसी ही चेष्टा करते हैं।'—प्रतर्दनने कहा।

'यह बात ऐसी ही है'—इस प्रकार उन सुप्रसिद्ध देवराज इन्द्रने उत्तर दिया। ''सब प्राण एक होते हुए भी जो पाँच प्राण हैं, वे नि:श्रेयस (परम कल्याण)-रूप हैं; नि:संदेह ऐसी ही बात है''॥ २॥

''वाक्-इन्द्रियसे वञ्चित होनेपर भी मनुष्य जीवित रहता है; क्योंकि हमलोग गूँगोंको प्रत्यक्ष देखते हैं। नेत्रहीन मनुष्य भी जीवित रहता है; क्योंकि हमलोग अन्धोंको जीवित देखते हैं। श्रवण-इन्द्रियसे रहित होनेपर भी मनुष्य जीवित रहता है; क्योंकि हमलोग बहरोंको जीवित देखते हैं। मन:शक्तिसे शून्य होनेपर भी मनुष्य जीवन धारण कर सकता है; क्योंकि हमलोग छोटे शिशुओंको जीवित देखते हैं। इतना ही नहीं, प्राणशक्तिके रहनेपर बाँह कट जानेपर भी मनुष्य जीवित रहता है, जाँघ कट जानेपर भी वह जीवन धारण कर सकता है (परंतु प्राणके न रहनेपर तो एक क्षण भी जीवित रहना असम्भव है।)—यह हम प्रत्यक्ष देखते हैं।''

''अत: क्रियाशक्तिका उद्बोधक प्राण ही ज्ञानशक्तिका उद्बोधक प्रज्ञात्मा है। (अतएव यह नि:श्रेयसरूप है।) यही इस शरीरको सब ओरसे पकड़कर उठाता है। इसीलिये इस प्राणकी ही 'उक्थ' रूपसे उपासना करनी चाहिये। (उत्थापनके कारण ही वह उक्थ है।) निश्चय ही जो प्रसिद्ध प्राण है, वही प्रज्ञा है अथवा जो प्रज्ञा बतायी गयी है, वही प्राण है; क्योंकि ये प्रज्ञा और प्राण दोनों साथ-साथ ही इस शरीरमें रहते हैं और जीवात्मासे मिलकर साथ-ही-साथ यहाँसे उत्क्रमण करते हैं। इस प्राणमय परमात्माका यही दर्शन (ज्ञान) है, यही विज्ञान है कि जिस अवस्थामें यह सोया हुआ पुरुष किसी स्वप्नको नहीं देखता, उस समय वह इस मुख्य प्राणमें ही एकीभावको प्राप्त हो जाता है। उस अवस्थामें वाक् सम्पूर्ण नामोंके साथ इस प्राणमें ही लीन हो जाती है। नेत्र समस्त रूपोंके साथ इसमें ही लीन हो जाता है। कान समग्र शब्दोंके साथ इसमें ही लीन हो जाता है तथा मन सम्पूर्ण चिन्तनीय विषयोंके साथ इसमें ही लयको प्राप्त हो जाता है।''

वह पुरुष जब जाग उठता है, उस समय, जैसे जलती हुई आगसे सब दिशाओंकी ओर चिनगारियाँ निकलती हैं, उसी प्रकार इस प्राणस्वरूप आत्मासे समस्त वाक् आदि प्राण निकलकर अपने-अपने योग्य स्थानकी ओर जाते हैं। फिर प्राणोंसे उनके अधिष्ठाता अग्नि आदि देवता प्रकट होते हैं और देवताओंसे लोक—नाम आदि विषय प्रकट होते हैं।

इस प्राणस्वरूप आत्माकी यह आगे बतायी जानेवाली ही सिद्धि है, यही विज्ञान है कि जिस अवस्थामें पुरुष रोगसे आर्त हो मरणासन्न हो जाता है, अत्यन्त निर्बलताको पहुँचकर अचेत हो जाता है—किसीको पहचान नहीं पाता, उस समय कहते हैं कि इसका चित्त (मन) उत्क्रमण कर गया। इसीलिये यह न तो सुनता है, न देखता है, न वाणीसे कुछ बोलता है और न चिन्तन ही करता है। उस समय इस प्राणमें ही वह एकीभावको प्राप्त हो जाता है। उस अवस्थामें वाक् सम्पूर्ण नामोंके साथ इसमें लीन हो जाती है। नेत्र समस्त रूपोंके साथ इसमें लीन हो जाता है। कान समग्र शब्दोंके साथ इसमें लीन हो जाता है तथा मन सम्पूर्ण चिन्तनीय विषयोंके साथ इसमें लीन हो जाता है। वह पुरुष मृत्युके बाद जब पुन: जागता है—जन्मान्तर ग्रहण करता है, उस

समय जैसे जलती हुई आगसे सब दिशाओंकी ओर चिनगारियाँ निकलती हैं, उसी प्रकार इस प्राणस्वरूप आत्मासे वाक् आदि प्राण प्रकट हो अपने-अपने योग्य स्थानकी ओर चल देते हैं। फिर प्राणोंसे उनके अधिष्ठाता अग्नि आदि देवता प्रकट होते हैं और देवताओंसे लोक—नाम आदि विषय प्रकट होते हैं॥ ३॥

वह मुमूर्षु पुरुष जब इस शरीरसे उत्क्रमण करता है, उस समय इन सब इन्द्रियोंके साथ ही उत्क्रमण करता है। वाक्-इन्द्रिय इस पुरुषके पास सब नामोंका त्याग कर देती है (अतः वह नामोंको ग्रहण नहीं कर पाता); क्योंकि वाक्-इन्द्रियसे ही मनुष्य नामोंको ग्रहण कर पाता है। घ्राण-इन्द्रिय उसके निकट समस्त गन्धोंका त्याग कर देती है (अतः वह गन्धसे भी वञ्चित हो जाता है); क्योंकि घ्राण-इन्द्रियसे ही मनुष्य सब प्रकारके गन्धोंका अनुभव करता है। नेत्र उसके समीप सब रूपोंको त्याग देता है; नेत्रसे ही मनुष्य सब रूपोंको ग्रहण करता है। कान उसके समीप समस्त शब्दोंको त्याग देता है; कानसे ही मनुष्य सब प्रकारके शब्दोंको ग्रहण करता है। मन उसके समीप समस्त चिन्तनीय विषयोंको त्याग देता है; मनसे ही मनुष्य सब प्रकारके चिन्तनीय विषयोंको ग्रहण करता है। यही प्राणस्वरूप आत्मामें सब इन्द्रियों और विषयोंका समर्पित हो जाना है।

निश्चय ही जो प्राण है, वही प्रज्ञा है अथवा जो प्रज्ञा है, वही प्राण है; क्योंकि ये दोनों इस शरीरमें साथ-साथ ही रहते हैं और साथ-साथ ही इससे उत्क्रमण करते हैं।

अब निश्चय ही जिस प्रकार इस प्रज्ञामें सम्पूर्ण भूत एक हो जाते हैं, इसकी हम स्पष्ट शब्दोंमें व्याख्या करेंगे॥ ४॥

अवश्य ही वाक्-इन्द्रियने इस प्रज्ञाके एक अङ्गकी पूर्ति की है। बाहरकी ओर उसके विषयरूपसे कल्पित भूतमात्रा (पञ्चभूतोंका अंश-विशेष) नाम—शब्द है। निश्चय ही प्राण (घ्राणेन्द्रिय)-ने भी इस प्रज्ञाके एक अङ्गकी पूर्ति की है। बाहरकी ओर उसके विषयरूपसे कल्पित जो भूतमात्रा है, वह गन्ध है। निश्चय ही नेत्रने भी इस प्रज्ञाके एक अङ्गकी पूर्ति की है। बाहरकी ओर उसके विषयरूपसे कल्पित जो भूतमात्रा है, वह रूप है। निश्चय ही काननेभी इस प्रज्ञाके एक अङ्गकी पूर्ति की है। बाहरकी ओर उसके विषयरूपसे कल्पित जो भूतमात्रा है, वह शब्द है। निश्चय ही जिह्वाने भी इस प्रज्ञाके एक अङ्गकी पूर्ति की है। बाहरकी ओर उसके विषयरूपसे कल्पित जो भूतमात्रा है, वह अन्नका रस है। निश्चय ही हाथोंने भी इस प्रज्ञाके एक अङ्गकी पूर्ति की है। बाहरकी ओर उनके विषयरूपसे कल्पित जो भूतमात्रा है, वह कर्म है। निश्चय ही शरीरने भी इस प्रज्ञाके एक अङ्गकी पूर्ति की है। बाहरकी ओर उसके विषयरूपसे कल्पित जो भूतमात्रा है, वह सुख और दुःख है। निश्चय ही उपस्थने भी इस प्रज्ञाके एक अङ्गकी पूर्ति की है, बाहरकी ओर इसके विषयरूपसे कल्पित जो भूतमात्रा है, वह आनन्द, रति और प्रजोत्पत्ति है। निश्चय ही पैरोंने भी इस प्रज्ञाके एक अङ्गकी पूर्ति की है। बाहरकी ओर उनके विषयरूपसे कल्पित जो भूतमात्रा है, वह गमन-क्रिया है। अवश्य ही प्रज्ञाने भी इस प्रज्ञाके एक अङ्गकी पूर्ति की है। बाहरकी ओर उसके विषयरूपसे कल्पित जो भूतमात्रा है, वह बुद्धिके द्वारा अनुभव करनेयोग्य वस्तु और कामनाएँ हैं॥ ५॥

प्रज्ञासे वाक्-इन्द्रियपर आरूढ़ होकर मनुष्य वाणीके द्वारा नामोंको ग्रहण करता है। प्रज्ञासे प्राण (घ्राणेन्द्रिय)-पर आरूढ़ होकर उसके द्वारा समस्त गन्धोंको ग्रहण करता है। प्रज्ञासे नेत्रपर आरूढ़ होकर नेत्रसे सब रूपोंको ग्रहण करता है। प्रज्ञासे श्रवण-इन्द्रियपर आरूढ़ होकर उसके द्वारा सब प्रकारके शब्दोंको ग्रहण करता है। प्रज्ञासे जिह्वापर आरूढ़ होकर जिह्वासे सम्पूर्ण अन्नरसोंको ग्रहण करता है। प्रज्ञासे हाथोंपर आरूढ़ होकर हाथोंसे समस्त कर्मोंको ग्रहण करता है। प्रज्ञासे शरीरपर आरूढ़ होकर शरीरसे भोग और पीडाजनित सुख-दुःखोंको ग्रहण करता है। प्रज्ञासे उपस्थपर आरूढ़ होकर उपस्थसे आनन्द, रति और प्रजोत्पत्तिको ग्रहण करता है। प्रज्ञासे पैरोंपर आरूढ़ होकर पैरोंसे सम्पूर्ण गमन-क्रियाओंको ग्रहण करता है तथा प्रज्ञासे ही बुद्धिपर आरूढ़ होकर उसके द्वारा अनुभव करनेयोग्य वस्तु एवं कामनाओंको ग्रहण करता है॥ ६॥

प्रज्ञासे रहित होनेपर वाक्-इन्द्रिय किसी भी नामका बोध नहीं करा सकती; क्योंकि उस अवस्थामें मनुष्य यों कहता है कि 'मेरा मन अन्यत्र चला गया था। मैं इस नामको नहीं समझ सका।' प्रज्ञासे पृथक् होनेपर घ्राण-इन्द्रिय किसी भी गन्धका बोध नहीं करा सकती। उस दशामें मनुष्य यों कहता है कि 'मेरा मन

अन्यत्र चला गया था, इसलिये मैं इस गन्धको नहीं जान सका।' प्रज्ञासे पृथक् होकर नेत्र किसी भी रूपका ज्ञान नहीं करा सकता। उस दशामें मनुष्य यों कहता है कि 'मेरा मन अन्यत्र चला गया था, इसलिये मैं इस रूपको नहीं पहचान सका।' प्रज्ञासे पृथक् रहकर कान किसी भी शब्दका ज्ञान नहीं करा सकता। उस दशामें मनुष्य यह कहता है कि 'मेरा मन अन्यत्र चला गया था, इसलिये मैं इस शब्दको नहीं समझ सका।' प्रज्ञासे पृथक् रहकर जिह्वा किसी भी अन्न-रसका अनुभव नहीं करा सकती। उस दशामें मनुष्य यह कहता है कि 'मेरा मन अन्यत्र चला गया था, इसलिये मैं इस अन्न-रसका अनुभव न कर सका।' प्रज्ञासे पृथक् होकर हाथ किसी भी कर्मका ज्ञान नहीं करा सकते। उस दशामें मनुष्य यह कहता है कि 'मेरा मन अन्यत्र चला गया था, इसलिये मैं इस कर्मको नहीं जान सका।' प्रज्ञासे पृथक् होकर शरीर किसी सुख-दु:खका ज्ञान नहीं करा सकता। उस दशामें मनुष्य कहता है कि 'मेरा मन अन्यत्र चला गया था, इसलिये मैं इन सुख-दु:खोंको नहीं जान सका।' प्रज्ञासे पृथक् हो उपस्थ किसी भी आनन्द, रति और प्रजोत्पत्तिका ज्ञान नहीं करा सकता; उस दशामें मनुष्य कहता है कि 'मेरा मन अन्यत्र चला गया था, इसलिये मैं इन आनन्द, रति और प्रजोत्पत्तिका ज्ञान नहीं प्राप्त कर सका।' प्रज्ञासे पृथक् रहकर दोनों पैर किसी भी गमन-क्रियाका बोध नहीं करा सकते; उस दशामें मनुष्य यह कहता है कि 'मेरा मन अन्यत्र चला गया था, इसलिये मैं इस गमन-क्रियाका अनुभव नहीं कर सका।' कोई भी बुद्धिवृत्ति प्रज्ञासे पृथक् होनेपर नहीं सिद्ध हो सकती, उसके द्वारा ज्ञातव्य वस्तुका बोध नहीं हो सकता॥ ७॥

वाणीको जाननेकी इच्छा न करे; वक्ताको—वाणीके प्रेरक आत्माको जाने। गन्धको जाननेकी इच्छा न करे; जो गन्धको ग्रहण करनेवाला आत्मा है, उसको जाने। रूपको जाननेकी इच्छा न करे; रूपके ज्ञाता साक्षी आत्माको जाने। शब्दको जाननेकी इच्छा न करे; उसे सुननेवाले आत्माको जाने। अन्नके रसको जाननेकी इच्छा न करे; उस अन्न-रसके ज्ञाता आत्माको जाने। कर्मको जाननेकी इच्छा न करे; कर्ता (आत्मा)-को जाने। सुख-दु:खको जाननेकी इच्छा न करे; सुख-दु:खके विज्ञाता (साक्षी आत्मा)-को जाने। आनन्द, रति और प्रजोत्पत्तिको जाननेकी इच्छा न करे; आनन्द, रति और प्रजोत्पत्तिके ज्ञाता (आत्मा)-को जाने। गमन-क्रियाको जाननेकी इच्छा न करे; गमन करनेवाले (साक्षी आत्मा)-को जाने। मनको जाननेकी इच्छा न करे; मनन करनेवाले (आत्मा)-को जाने।

वे ये दस ही भूतमात्राएँ (नाम आदि विषय) हैं, जो प्रज्ञामें स्थित हैं तथा प्रज्ञाकी भी दस ही मात्राएँ (वाक् आदि इन्द्रियरूप) हैं, जो भूतोंमें स्थित हैं। यदि वे प्रसिद्ध भूतमात्राएँ न हों तो प्रज्ञाकी मात्राएँ भी नहीं रह सकतीं और प्रज्ञाकी मात्राएँ न हों तो भूतमात्राएँ भी नहीं रह सकतीं। इन दोमेंसे किसी भी एकके द्वारा किसी भी रूप (विषय अथवा इन्द्रिय)-की सिद्धि नहीं हो सकती। तात्पर्य यह कि इन्द्रियसे विषयकी और विषयसे इन्द्रियकी सत्ता जानी जाती है; यदि केवल विषय हो तो विषयसे विषयका ज्ञान नहीं हो सकता अथवा यदि केवल इन्द्रिय रहे तो उससे भी इन्द्रियका ज्ञान होना सम्भव नहीं है; अत: दोनोंका—भूतमात्रा और प्रज्ञामात्राका (विषय तथा इन्द्रियका) होना आवश्यक है।

(विषय और इन्द्रियोंमें जो परस्पर भेद है, वैसा प्रज्ञामात्रा और भूतमात्रामें भेद नहीं है—इस आशयसे कहते हैं—) इनमें नानात्व नहीं है अर्थात् प्रज्ञामात्रा और भूतमात्राका जो स्वरूप है, उसमें भेद नहीं है। वह इस प्रकार समझना चाहिये। जैसे रथकी नेमि अरोंमें और अरे रथकी नाभिके आश्रित हैं, इसी प्रकार ये भूतमात्राएँ प्रज्ञामात्राओंमें स्थित हैं और प्रज्ञामात्राएँ प्राणमें प्रतिष्ठित हैं। वह यह प्राण ही प्रज्ञात्मा, आनन्दमय, अजर और अमृतरूप है। वह न तो अच्छे कर्मसे बढ़ता है और न खोटे कर्मसे छोटा ही होता है। यह प्राण एवं प्रज्ञारूप चेतन परमात्मा ही इस देहाभिमानी पुरुषसे साधु कर्म करवाता है। वह भी उसीसे करवाता है, जिसे इन प्रत्यक्ष लोकोंसे ऊपर ले जाना चाहता है तथा जिसे वह इन लोकोंकी अपेक्षा नीचे ले जाना चाहता है, उससे असाधु कर्म करवाता है। यह लोकपाल है, यह लोकोंका अधिपति है और यह सर्वेश्वर है। इन सब गुणोंसे युक्त वह प्राण ही मेरा आत्मा है—इस प्रकार जाने। वह मेरा आत्मा है, इस प्रकार जाने॥ ८॥

॥ तृतीय अध्याय समाप्त॥ ३॥

ॐ

चतुर्थ अध्याय

अजातशत्रु और गार्ग्यका संवाद

गर्गगोत्रमें उत्पन्न एवं गार्ग्य नामसे प्रसिद्ध एक ब्राह्मण थे, जो बलाकाके पुत्र थे। उन्होंने सम्पूर्ण वेदोंका अध्ययन तो किया ही था, वे वेदोंके अच्छे वक्ता भी थे। उन दिनों संसारमें सब ओर उनकी बड़ी ख्याति थी। वे उशीनर देशके निवासी थे, परंतु सदा विचरण करते रहनेके कारण कभी मत्स्य-देशमें, कभी कुरु-पाञ्चालमें और कभी काशी तथा मिथिला-प्रान्तमें रहते थे। इस प्रकार वे सुप्रसिद्ध गार्ग्य एक दिन काशीके विद्वान् राजा अजातशत्रुके पास गये और अभिमानपूर्वक बोले—'राजन्! मैं तुम्हारे लिये ब्रह्मतत्त्वका उपदेश करूँगा।' गार्ग्यके यों कहनेपर उन प्रसिद्ध राजा अजातशत्रुने कहा—'ब्रह्मन्! आपकी इस बातपर हम आपको एक हजार गौएँ देते हैं। निश्चय ही आजकल लोग जनक-जनक कहते हुए ही उनके समीप दौड़े जाते हैं (अर्थात् राजा जनक ही ब्रह्मविद्याके श्रोता और दानी हैं, ऐसा कहकर प्रायः लोग उन्हींके निकट जाते हैं; आज आपने हमारे पास इसी उद्देश्यसे आकर राजा जनकके समान ही हमारा गौरव बढ़ाया है। अतः हम आपको एक हजार गौएँ देते हैं)॥ १॥

तब वे प्रसिद्ध बलाका-पुत्र गार्ग्य बोले—'राजन्! यह जो सूर्यमण्डलमें अन्तर्यामी पुरुष है, इसीकी मैं ब्रह्मबुद्धिसे उपासना करता हूँ।' यह सुनकर उनसे प्रसिद्ध राजा अजातशत्रुने कहा—'नहीं-नहीं, इसके विषयमें आप संवाद न करें। निश्चय ही यह सबसे महान् और शुक्ल वस्त्र धारण करनेवाला है।* यह सबका अतिक्रमण करके—सबसे ऊँची स्थितिमें स्थित है तथा यह सबका मस्तक है। इस प्रकार मैं इसकी उपासना करता हूँ। इसी प्रकार वह मनुष्य भी, जो इस प्रसिद्ध सूर्यमण्डलान्तर्गत पुरुषकी इस रूपमें उपासना करता है, सबका अतिक्रमण करके—सबसे ऊँची स्थितिमें स्थित होता है तथा समस्त भूतोंका मस्तक माना जाता है'॥ २-३॥

वे सुप्रसिद्ध बलाकानन्दन गार्ग्य बोले—'यह जो चन्द्रमण्डलमें अन्तर्यामी पुरुष है, इसीकी मैं ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ।' यह सुनकर उनसे प्रसिद्ध राजा अजातशत्रुने कहा—'नहीं-नहीं, इसके विषयमें आप संवाद न करें। यह सोम राजा है और अन्नका आत्मा है। निश्चय ही इस प्रकार मैं इसकी उपासना करता हूँ। इसी प्रकार वह भी, जो इस प्रसिद्ध चन्द्रमण्डलान्तर्गत पुरुषकी इस रूपमें उपासना करता है, अन्नका आत्मा होता है (अन्न-राशिसे सम्पन्न होता है)'॥ ४॥

वे सुप्रसिद्ध बलाकानन्दन गार्ग्य बोले—'यह जो विद्युन्मण्डलमें अन्तर्यामी पुरुष है, इसीकी मैं ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ। यह सुनकर उनसे प्रसिद्ध राजा अजातशत्रुने कहा—'नहीं-नहीं, इसके विषयमें आप संवाद न करें। यह तेजका आत्मा है—निश्चय ही इस भावसे मैं इसकी उपासना करता हूँ। इसी प्रकार वह भी, जो इस प्रसिद्ध विद्युन्मण्डलान्तर्गत पुरुषकी इस रूपमें उपासना करता है, तेजका आत्मा (महान् तेजस्वी) होता है'॥ ५॥

वे सुप्रसिद्ध बलाकानन्दन गार्ग्य बोले—'यह जो मेघमण्डलमें अन्तर्यामी पुरुष है, इसीकी मैं ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ।' यह सुनकर उनसे प्रसिद्ध राजा अजातशत्रुने कहा—'नहीं-नहीं, इसके विषयमें आप संवाद न करें। यह शब्दका आत्मा है—निश्चय ही इसी भावसे मैं इसकी उपासना करता हूँ। इसी प्रकार वह भी, जो इस प्रसिद्ध मेघ-मण्डलान्तर्गत पुरुषकी इस रूपमें उपासना करता है, शब्दका आत्मा (समस्त वाङ्मयके चरम तात्पर्यका ज्ञाता) हो जाता है'॥ ६॥

वे सुप्रसिद्ध बलाकानन्दन गार्ग्य बोले—'यह जो आकाशमण्डलमें अन्तर्यामी पुरुष है इसीकी मैं ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ।' यह सुनकर उनसे प्रसिद्ध राजा अजातशत्रुने कहा—'नहीं-नहीं, इसके विषयमें आप संवाद न करें। यह पूर्ण, प्रवृत्तिशून्य (निष्क्रिय) और ब्रह्म (सबसे बृहत्) है—निश्चय ही इसी भावसे मैं इसकी उपासना करता हूँ। इसी प्रकार वह भी, जो इस प्रसिद्ध आकाशमण्डलान्तर्गत पुरुषकी इस रूपमें उपासना

---

* सूर्यकी तेजोमयी किरणें भास्वर शुक्लवर्णकी मानी गयी हैं; अतः उनसे आवृत होनेके कारण सूर्यमण्डलके अधिष्ठाता पुरुषको 'पाण्डरवासा' कहा गया अथवा 'पाण्डरवासाः' पद चन्द्रमाका विशेषण है। चन्द्रमा स्वभावतः शुक्ल रश्मियोंसे आच्छादित है तथा सूर्यकी जो सुषुम्ना नामकी किरण है, वह चन्द्रमारूप ही मानी गयी है। बृहदारण्यक उपनिषद्में द्वितीय अध्यायके प्रथम ब्राह्मणमें भी यह प्रसङ्ग आया है; वहाँ 'पाण्डरवासाः' यह विशेषण चन्द्रमाके लिये ही आया है।

करता है, प्रजा और पशुसे पूर्ण होता है। इसके सिवा, न तो स्वयं वह उपासक और न उसकी संतान ही समयसे (मनुष्यके लिये नियत सामान्य आयुसे) पहले मृत्युको प्राप्त होती है'॥ ७॥

वे सुप्रसिद्ध बलाकानन्दन गार्ग्य बोले—'यह जो वायुमण्डलमें अन्तर्यामी पुरुष है, इसीकी मैं ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ।' यह सुनकर उनसे प्रसिद्ध राजा अजातशत्रुने कहा—'नहीं-नहीं, इसके विषयमें आप संवाद न करें। यह इन्द्र (परम ऐश्वर्यसे सम्पन्न), वैकुण्ठ (कहीं भी कुण्ठित न होनेवाला) और कभी परास्त न होनेवाली सेना है—निश्चय ही इसी भावसे मैं इसकी उपासना करता हूँ। इसी प्रकार वह भी, जो इस प्रसिद्ध वायुमण्डलान्तर्गत पुरुषकी इस रूपमें उपासना करता है। अवश्य ही विजयशील, दूसरोंसे पराजित न होनेवाला और शत्रुओंपर विजय पानेवाला होता है'॥ ८॥

वे सुप्रसिद्ध बलाकानन्दन गार्ग्य बोले—'यह जो अग्निमण्डलमें अन्तर्यामी पुरुष है, इसीकी मैं ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ।' यह सुनकर उनसे प्रसिद्ध राजा अजातशत्रुने कहा—'नहीं-नहीं, इसके विषयमें आप संवाद न करें। इस विषासहि[1] (दूसरोंके आक्रमणको सह सकनेवाला) है—निश्चय ही इसी भावसे मैं इसकी उपासना करता हूँ। इसी प्रकार वह उपासक भी, जो इस प्रसिद्ध अग्निमण्डलान्तर्गत पुरुषकी इस रूपमें उपासना करता है, यह उपासनाके पश्चात् विषासहि (दूसरोंका वेग सह सकनेवाला) होता है'॥ ९॥

वे सुप्रसिद्ध बलाकानन्दन गार्ग्य बोले—'यह जो जलमण्डलमें अन्तर्यामी पुरुष है, इसीकी मैं ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ।' यह सुनकर उनसे प्रसिद्ध राजा अजातशत्रुने कहा—'नहीं-नहीं, इसके विषयमें आप संवाद न करें। यह नामका आत्मा[2] है (अर्थात् जितने भी नामधारी जीव हैं, उन सबका आत्मा—जीवनरूप है)—निश्चय ही इसी भावसे मैं इसकी उपासना करता हूँ। इसी प्रकार वह भी, जो इस प्रसिद्ध जलमण्डलान्तर्गत पुरुषकी इस रूपमें उपासना करता है, नामधारी जीवमात्रका आत्मा होता है। यह अधिदैवत उपासना बतायी गयी। अब अध्यात्म-उपासना बतायी जाती है॥ १०॥

वे सुप्रसिद्ध बलाकानन्दन गार्ग्य बोले—'यह जो दर्पणमें पुरुष है, इसीकी मैं ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ।' यह सुनकर उनसे प्रसिद्ध राजा अजातशत्रुने कहा—'नहीं-नहीं, इसके विषयमें आप संवाद न करें। यह प्रतिरूप[3] है—निश्चय ही इसी भावसे मैं इसकी उपासना करता हूँ। इसी प्रकार वह भी, जो इस दर्पणान्तर्गत पुरुषकी इस रूपमें उपासना करता है, उस प्रतिरूपगुणसे विभूषित होता है। उसकी संततिमें सब उसके अनुरूप ही जन्म लेते हैं, प्रतिकूल रूप और स्वभाववाले नहीं॥ ११॥'

वे सुप्रसिद्ध बलाकानन्दन गार्ग्य बोले—'यह जो प्रतिध्वनिमें पुरुष है, इसीकी मैं ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ।' यह सुनकर उनसे प्रसिद्ध राजा अजातशत्रुने कहा—'नहीं-नहीं, इसके विषयमें आप संवाद न करें। यह द्वितीय[4] और अनपग है—निश्चय ही इसी भावसे मैं इसकी उपासना करता हूँ। इसी प्रकार वह भी, जो इस प्रतिध्वनिगत पुरुषकी इस रूपमें उपासना करता है, अपने सिवा द्वितीय (स्त्री-पुत्रादि)-को प्राप्त करता है तथा सदा द्वितीयवान् बना रहता है (अर्थात् उन स्त्री-पुत्र आदिसे उसका वियोग नहीं होता)'॥ १२॥

वे सुप्रसिद्ध बलाकानन्दन गार्ग्य बोले—'यह जो जाते हुए पुरुषके पीछे ध्वन्यात्मक शब्द उसका अनुसरण करता है, उसीकी मैं ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ।' यह सुनकर उनसे प्रसिद्ध राजा अजातशत्रुने कहा—'नहीं-नहीं, इसके विषयमें आप संवाद न करें। यह प्राणरूप[5] है—निश्चय ही इसी भावसे मैं इसकी उपासना करता हूँ। इसी प्रकार वह भी, जो इसकी इस रूपमें उपासना करता है, न तो स्वयं पूरी आयुके पहले मृत्युको प्राप्त होता है और न उसकी संतान ही पूर्ण आयुके पहले निधनको प्राप्त होती है'॥ १३॥

---

१. विषका अर्थ यहाँ हविष्य है। अग्निमें जो हविष्य डाला जाता है, उसे वह भस्म करके सहन कर लेता है; इसलिये अग्नि विषासहि अर्थात् सहन करनेवाला है।

२. जलके बिना जीवन-रक्षा असम्भव है; अत: उसे नामधारी जीवमात्रका आत्मा कहा गया है।

३. रूपका ठीक वैसा ही प्रतिबिम्ब उपस्थित करनेके कारण उसे 'प्रतिरूप' कहा गया है।

४. प्रतिध्वनि एक ध्वनिकी ही पुनरावृत्ति है, अतएव यह द्वितीय है। प्रतिध्वनिमें गतिका अभाव है, इसलिये वह 'अनपग' है।

५. चलते या दौड़ते समय श्वासकी गति कुछ तीव्र हो जाती है; उससे जो अव्यक्त शब्द होता है, उसीको यहाँ 'प्राण' रूप बताया गया प्रतीत होता है।

वे सुप्रसिद्ध बलाकानन्दन गार्ग्य बोले—'यह जो छायामय पुरुष है, इसीकी मैं ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ।' यह सुनकर उनसे प्रसिद्ध राजा अजातशत्रुने कहा—'नहीं-नहीं, इसके विषयमें आप संवाद न करें। यह मृत्युरूप[1] है—निश्चय ही इसी भावसे मैं इसकी उपासना करता हूँ। इसी प्रकार वह भी, जो इसकी इस रूपमें उपासना करता है, न तो स्वयं ही समयसे (मनुष्यके लिये सामान्यतः नियत आयुसे) पहले मृत्युको प्राप्त होता है और न उसकी सन्तान ही समयसे पहले जीवनसे हाथ धोती है'॥ १४॥

उन सुप्रसिद्ध बलाकानन्दन गार्ग्यने कहा—'यह जो शरीरान्तर्वर्ती पुरुष है, इसीकी मैं ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ।' यह सुनकर उनसे प्रसिद्ध राजा अजातशत्रुने कहा—'नहीं-नहीं, इसके विषयमें आप संवाद न करें। यह प्रजापतिरूप[2] है—निश्चय ही इस भावसे ही मैं इसकी उपासना करता हूँ। इसी प्रकार वह भी, जो इसकी इस रूपमें उपासना करता है, प्रजा और पशुओंसे सम्पन्न होता है'॥ १५॥

वे सुप्रसिद्ध बलाकानन्दन गार्ग्य बोले—'यह जो प्रज्ञासे नित्य संयुक्त प्राणरूप आत्मा है, जिससे एकताको प्राप्त होकर यह सोया हुआ पुरुष स्वप्नमार्गसे विचरता है (नाना प्रकारके स्वप्नोंका अनुभव करता है), उसीकी मैं ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ।' यह सुनकर उनसे प्रसिद्ध राजा अजाशत्रुने कहा—'नहीं-नहीं, इसके विषयमें आप संवाद न करें। यह यम[3] राजा है—निश्चय ही इसी भावसे मैं इसकी उपासना करता हूँ। इसी प्रकार जो इसकी इस रूपमें उपासना करता है, उस उपासककी श्रेष्ठताके लिये यह सारा जगत् नियमपूर्वक चेष्टा करता है'॥ १६॥

उन सुप्रसिद्ध बलाकानन्दन गार्ग्यने कहा—'यह जो दाहिने नेत्रमें पुरुष है, उसीकी मैं ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ।' यह सुनकर उनसे प्रसिद्ध राजा अजातशत्रुने कहा—'नहीं-नहीं, इसके विषयमें आप संवाद न करें। यह नामका आत्मा, अग्निका आत्मा तथा ज्योतिका[4] आत्मा है—निश्चय ही इसी भावसे मैं इसकी उपासना करता हूँ। इसी प्रकार वह भी, जो इसकी इस रूपमें उपासना करता है, इन सबका आत्मा होता है'॥ १७॥

वे सुप्रसिद्ध बलाकानन्दन गार्ग्य बोले—'यह जो बायें नेत्रमें पुरुष है, इसीकी मैं ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ।' यह सुनकर उनसे प्रसिद्ध राजा अजातशत्रुने कहा—'नहीं-नहीं, इसके विषयमें आप संवाद न करें। यह सत्यका आत्मा, विद्युत्का आत्मा और तेजका[5] आत्मा है—निश्चय ही इसी भावसे मैं इसकी उपासना करता हूँ। इसी प्रकार वह भी, जो इसकी इस रूपमें उपासना करता है, इन सबका आत्मा होता है'॥ १८॥

उसके बाद बलाकानन्दन गार्ग्य चुप हो गये। तब उनसे प्रसिद्ध राजा अजातशत्रुने कहा—'बालाके! बस, क्या इतना ही आपका ब्रह्मज्ञान है?' इस प्रश्नपर बलाकानन्दन गार्ग्य बोले—'हाँ, इतना ही है।' तब उनसे प्रसिद्ध राजा अजातशत्रुने कहा—'तब तो व्यर्थ ही आपने मेरे साथ यह संवाद किया था कि मैं तुम्हें ब्रह्मका उपदेश करूँगा। बलाकानन्दन! अवश्य ही जो आपके बताये हुए इन सभी सोपाधिक पुरुषोंका कर्ता है अथवा ये सभी जिसके कर्म हैं, वही जाननेयोग्य है।'

राजाके यह कहनेपर वे प्रसिद्ध बलाकानन्दन गार्ग्य हाथमें समिधा लेकर उनके पास गये और बोले—'मैं आपको गुरु बनानेके लिये समीप आता हूँ।' यह सुनकर उनसे प्रसिद्ध राजा अजातशत्रुने कहा—'यह विपरीत बात हो जायगी, यदि क्षत्रिय ब्राह्मणको शिष्य बनानेके लिये अपने समीप बुलाये। इसलिये आइये (एकान्तमें चलें), वहाँ आपको मैं अवश्य ब्रह्मका ज्ञान कराऊँगा।' यों कहकर राजाने बालाकि गार्ग्यका हाथ पकड़ लिया और वहाँसे चल दिये। वे दोनों एक सोये हुए पुरुषके पास चले आये। वहाँ प्रसिद्ध राजा अजातशत्रुने उस सोये हुए पुरुषको पुकारा—'ओ बृहन्! हे पाण्डरवासा! हे सोम राजन्!' इस प्रकार सम्बोधन करनेपर भी वह पुरुष चुपचाप सोया ही रहा। तब राजाने उस पुरुषके शरीरपर छड़ीसे आघात किया। वह सोया हुआ पुरुष छड़ीकी चोट लगते ही उठकर खड़ा हो गया। तब बालाकि गार्ग्यसे राजा अजातशत्रुने कहा—'बालाके! यह पुरुष इस प्रकार अचेत-सा होकर कहाँ सोता था? किस प्रदेशमें इसका शयन हुआ था? और

---

१. छाया अन्धकारका ही स्वरूप है। बाहरका अन्धकार और भीतरका अज्ञान—ये दोनों मृत्युरूप हैं।

२. सन्तानके उत्पादन और पालन-पोषणमें संलग्न रहनेसे यहाँ शरीरस्थित पुरुषको 'प्रजापति' कहा गया है।

३. प्राण ही यम-नियमका हेतु है तथा वह राजाकी भाँति सर्वत्र विशेष स्थान रखता है, अतएव वह 'यम राजा' कहा गया है।

४-५. नेत्र तैजस इन्द्रिय है, नेत्रसे ही नाम-रूपवाली वस्तुओंका प्रकाशन होता है; अतः इसे नाम, सत्य, ज्योति, विद्युत्, अग्नि और तेजका आत्मा बताना ठीक ही है।

इस जाग्रत्-अवस्थाके प्रति यह कहाँसे चला आया?'

राजाके इस प्रकार पूछनेपर भी बालाकि गार्ग्य इस रहस्यको समझ न सके। तब उनसे प्रसिद्ध राजा अजातशत्रुने फिर कहा—'बालाके! यह पुरुष इस प्रकार अचेत-सा होकर जहाँ सोता था, जहाँ इसका शयन हुआ था और इस जाग्रत्-अवस्थाके प्रति यह जहाँसे आया है, वह स्थान यह है—'हिता' नामसे प्रसिद्ध बहुत-सी नाड़ियाँ हैं, जो हृदय-कमलसे सम्बन्ध रखनेवाली हैं। वे हृदय-कमलसे निकलकर सम्पूर्ण[1] शरीरमें व्याप्त होकर फैली हुई हैं। इनका परिमाण इस प्रकार है—एक केशको एक हजार बार चीरनेपर जो एक खण्ड हो सकता है, उतनी ही सूक्ष्म वे सब-की-सब नाडियाँ हैं। पिङ्गल अर्थात् नाना प्रकारके रंगोंका जो अति सूक्ष्मतम रस है, उससे वे पूर्ण हैं। शुक्ल, कृष्ण, पीत और रक्त—इन सभी रंगोंके सूक्ष्मतम अंशसे वे युक्त हैं। उन्हीं नाडियोंमें वह पुरुष सोते समय स्थित रहता है।'

जिस समय सोया हुआ पुरुष कोई स्वप्न नहीं देखता, उस समय वह इस प्राणमें ही एकीभावको प्राप्त हो जाता है। उस समय वाक् सम्पूर्ण नामोंके साथ इस प्राणमें ही लीन हो जाती है। नेत्र समस्त रूपोंके साथ इसमें ही लीन हो जाता है। कान समग्र शब्दोंके साथ इसमें ही लीन हो जाता है तथा मन भी सम्पूर्ण चिन्तनीय विषयोंके साथ इसमें ही लयको प्राप्त हो जाता है। वह पुरुष जब जाग उठता है, उस समय जैसे जलती हुई आगसे सब दिशाओंकी ओर चिनगारियाँ निकलती हैं, उसी प्रकार इस प्राणस्वरूप आत्मासे समस्त वाक् आदि प्राण निकलकर अपने-अपने भोग्य-स्थानकी ओर जाते हैं। फिर प्राणोंसे उनके अधिष्ठाता अग्नि आदि देवता प्रकट होते हैं और देवताओंसे लोक—नाम आदि विषय प्रकट होते हैं॥ १९॥

उस आत्माकी उपलब्धिका दृष्टान्त इस प्रकार है। जैसे क्षुरधान (छूरा रखनेके लिये बनी हुई चर्ममयी पेटी)-में छूरा रखा रहता है, उसी प्रकार शरीरान्तर्वर्ती हृदय-कमलमें अङ्गुष्ठमात्र पुरुषके रूपमें परमात्माकी उपलब्धि होती है तथा जिस प्रकार अग्नि अपने नीडभूत अरणी आदि काष्ठमें सर्वत्र व्याप्त रहती है, उसी प्रकार यह प्रज्ञानवान् आत्मा इस 'आत्मा' नामसे कहे जानेवाले शरीरमें नखसे शिखातक व्याप्त है। उस इस साक्षी आत्माका ये वाक् आदि आत्मा अनुगत सेवककी भाँति अनुसरण करते हैं—ठीक उसी तरह, जैसे श्रेष्ठ गुणोंसे युक्त धनीका, उसके आश्रित रहनेवाले स्वजन अनुवर्तन करते हैं तथा जिस प्रकार धनी अपने स्वजनोंके साथ भोजन करता है और स्वजन जैसे उस धनीको ही भोगते हैं, उसी प्रकार यह प्रज्ञावान् आत्मा इन वाक् आदि आत्माओंके साथ भोगता है तथा निश्चय ही इस आत्माको ये वाक् आदि आत्मा भोगते हैं।

वे प्रसिद्ध देवता इन्द्र जबतक इस आत्माको नहीं जानते थे, तबतक असुरगण इनका पराभव करते रहते थे; किंतु जब वे इस आत्माको जान गये, तब असुरोंको मारकर, उन्हें पराजित करके सम्पूर्ण देवताओंमें श्रेष्ठताका पद, स्वर्गका राज्य और त्रिभुवनका आधिपत्य पा गये। उसी प्रकार यह जाननेवाला विद्वान् सम्पूर्ण पापोंका नाश करके समस्त प्राणियोंमें श्रेष्ठताका पद, स्वाराज्य और प्रभुत्व प्राप्त कर लेता है। जो यह जानता है, जो यह जानता है, उसे पूर्वोक्त फल मिलता है'॥ २०॥

॥ चतुर्थ अध्याय समाप्त॥ ४॥

॥ ऋग्वेदीय कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद् समाप्त॥

शान्तिपाठ

ॐ वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविरावीर्म एधि। वेदस्य म आणीस्थः श्रुतं मे मा प्रहासीः। अनेनाधीतेनाहोरात्रान्सन्दधाम्यृतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि। तन्मामवतु। तद्वक्तारमवतु। अवतु मामवतु वक्तारमवतु वक्तारम्॥

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

[इसका अर्थ ऐतरेयोपनिषद्के आरम्भमें छप चुका है।]

१. हृदय नामसे प्रसिद्ध जो कमलके आकारका मांसपिण्ड है, उसको चारों ओर आँतोंने घेर रखा है; आँतोंद्वारा किये गये हृदयके इस परिवेष्टनका नाम 'पुरीतत्' है। यह 'पुरीतत्' सम्पूर्ण शरीरका उपलक्षण है—ऐसा श्रीशङ्कराचार्यने माना है।